Acc. 1040

दसवर्षीय स्कूल के लिए पाठ्यक्रम

एक रूपरेखा

193

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

दसवर्षीय स्कूल के लिए पाठ्यक्रम

एक रूपरेखा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

प्रथम संस्करण
अप्रैल, 1976
चैत्र, 1898
पुनर्मुद्रण
सितम्बर, 1976
भाद्र, 1898
P. D. 20 T

4.7.85
NAT(H)
375.001
र आ ष
1976
1) पाठ्यक्रम (उ० मा०शि०)

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 1976

Nati[illegible]e of Education
Li[illegible]mentation
[illegible]E.R.T.)
Acc. No. F14612
Date 10.11.82

अनुवादक
सुरेश धींगड़ा

प्रकाशन विभाग में श्री व० र० द्रवीड, सचिव राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा राधाशरण अग्रवाल द्वारा सरस्वती ऑफसेट प्रिंटर्स सरस्वती हाऊस, नारायना, नई दिल्ली 110028 में मुद्रित।

प्राक्कथन

नवीन भारतीय समाज प्राचीन आदर्शों को नये आदर्शों से बदल रहा है। शिक्षा-आयोग (1964-66) ने राष्ट्रीय विकास को शिक्षा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्षों में से एक के रूप में रेखांकित किया है और वस्तुतः इसे "विशाल स्तर पर" शान्तिपूर्ण सामाजिक "परिवर्तन" का एकमात्र माध्यम स्वीकार किया है। आयोग की रिपोर्ट पर संसद में विचार हुआ और 1968 में भारत सरकार द्वारा एक नीति-प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसमें आयोग की मुख्य सिफारिशें मान ली गईं।

निःसन्देह ऐसा पाठ्यक्रम, जो अपने उद्देश्यों, वस्तु और विधि के माध्यम से भारतीय समाज और नागरिकों की वर्तमान और उभरती हुई आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके, तैयार करना एक जटिल कार्य है। ऐसे विशाल देश में, जिसमें अनेक भाषाएँ, संस्कृतियाँ और परम्पराएँ हैं और जहाँ शिक्षा राज्यों का विषय हो, पाठ्यक्रम की रूपरेखा पर राष्ट्रमत के निर्माण की आवश्यकता इस काम को और भी कठिन बना देती है। फिर भी, पिछले कुछ वर्षों में अनेक क्षेत्रों के विशेषज्ञों के अनेक स्तरों पर विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप एक रूपरेखा सामने आई है जो इस प्रलेख में प्रस्तुत की जा रही है। इस सत्य के बावजूद कि पाठ्यक्रम के गतिशील परिवेश से सम्बद्ध होने के कारण उसे पूर्ण और अन्तिम रूप नहीं दिया जा सकता, वर्तमान रूपरेखा को योजनाओं और अनुवर्ती कार्यों को पूर्ण करने के गम्भीर प्रयत्नों का प्रारम्भिक बिन्दु बनाने का क्षण आ गया है। अकादमिक बहसों को चलाये रखने के रोमांच को कर्म के उद्वेग में बदलना ही होगा, अन्यथा विचार-विमर्श का लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् उन अनेक शिक्षाविदों के प्रति अपना आभार प्रकट करती है जिन्होंने इस प्रलेख को तैयार करने में सहायता दी है। परिषद् के अध्यक्ष प्रो० नूरुल हसन की इस विषय में रुचि और कार्य के प्रारम्भ से अन्त तक उनके मार्गदर्शन का विशेष उल्लेख आवश्यक लगता है। विशेषज्ञ-दल की प्रथम बैठक में तथा उस कान्फ्रेंस में, जिसमें योजना को अन्तिम रूप प्रदान किया गया, उनके भाषण योजना को स्पष्ट करने में अत्यन्त मूल्यवान सिद्ध हुए। हमें आशा है कि आने वाले वर्षों में राष्ट्रीय विकास के लिए शिक्षा के नवीनीकरण में यह प्रलेख लाभप्रद मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

रईस अहमद
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और
प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
14 नवम्बर, 1975

पाठ्यक्रम-समिति

1973 में शिक्षा एवं समाज कल्याण मन्त्रालय ने 10+2 प्रणाली का पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए एक विशेषज्ञ दल का गठन किया। 1974 में इस दल को बढ़ा करके राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के उन विशेषज्ञों को भी इसमें सम्मिलित किया गया जिन्होंने 1972 में पाठ्यक्रम का एक प्रारूप तैयार किया था और 1973 में उसमें संशोधन किये थे। विभिन्न क्षेत्रों के लिए अनेक उप-समितियाँ बनाई गईं और कार्य के दौरान कई अन्य शिक्षाविदों की सम्मति भी ली गई। फिर एक दृष्टिकोण-पत्र तैयार किया गया और मार्च-अप्रैल 1975 में उसे राज्यों तथा अनेक अध्यापकों, शैक्षिक प्रशासकों, शिक्षाविदों को उनकी सम्मतियों के लिए भेजा गया। अन्ततः अगस्त 1975 में दिल्ली में पाठ्यक्रम-प्रारूप पर विचार करने के लिए एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। इसमें देश भर के लगभग 200 शिक्षाविदों ने भाग लिया। प्रस्तुत प्रारूप यथासम्भव मन्त्रणा प्राप्त करने के बाद ही तैयार किया गया है और सम्भवतः यह इस प्रकार के विषयों पर यथासम्भव मतैक्य का प्रतिनिधित्व भी करता है। जिन व्यक्तियों ने पाठ्यक्रम की इस रूपरेखा को तैयार करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है और जिनके हम ऋणी हैं, उन सबके नाम यहाँ देना सम्भव नहीं है, परन्तु परिवर्द्धित समिति के सदस्यों के नाम यहाँ दिए जा रहे हैं :

1. प्रोफ़ेसर रईस अहमद (अध्यक्ष)
2. प्रोफ़ेसर रमेश मोहन
3. प्रोफ़ेसर जे० एन० कपूर
4. डॉ० डी० पी० पटनायक
5. प्रोफ़ेसर शिवतोष मुकर्जी
6. प्रोफ़ेसर रोमिला थापर
7. प्रोफ़ेसर आर० सी० मेहरोत्रा
8. डॉ० डी० जी० वाखरकर
9. डॉ० एस० के० मित्र
10. प्रोफ़ेसर मूनिस रज़ा
11. प्रोफ़ेसर रशीदुद्दीन खान
12. डॉ० (श्रीमती) चित्रा नायक
13. श्री वी० जी० कुलकर्णी
14. श्रीमती विभा पार्थसारथी
15. प्रोफ़ेसर नामवरसिंह
16. श्री० सी० उलगनन्दन
17. श्री कृष्ण कान्त दीक्षित
18. डॉ० (श्रीमती) कपिला वात्स्यायन
19. श्री जे० पी० नायक
20. श्रीमती जे० अंजनी दयानन्द
21. प्रोफ़ेसर पी० के० रॉय
22. डॉ० रामगोपाल मिश्र
23. श्री अनिल विद्यालंकार
24. कुमारी एस० के० राम
25. प्रोफ़ेसर भालचन्द्र सदाशिव पारिख
26. श्रीमती आदर्श खन्ना
27. प्रोफ़ेसर ए० एन० बोस
28. प्रोफ़ेसर बी० शरण
29. प्रोफ़ेसर मनमोहन सिंह अरोड़ा
30. श्री जी० एस० बडेरिया
31. श्री एस० सी० चौधरी
32. श्री ए० के० सेन
33. श्री जे० डी० बिरमानी
34. प्रोफ़ेसर डी० एस० रावत
35. श्री आर० के० चोपड़ा
36. श्रीमती सी० दर
37. डॉ० (श्रीमती) पी० पी० सिंह
38. श्री सुरेन्द्र नाथ
39. प्रो० सी० बी० गोविंदराव
40. प्रो० पी०डी० शर्मा (सदस्य सचिव)
    और बाद में
    प्रो० आर० सी० दास (सदस्य सचिव)

विषय-सूची

	प्राक्कथन	...	iii
	पाठ्यक्रम-समिति	...	iv
1.	भूमिका	...	1
2.	प्रमुख सिफारिशें	...	3
3.	सामान्य शिक्षा के स्तरानुसार उद्देश्य	...	11
4.	विषयानुसार शिक्षा-उद्देश्य और विषय वस्तु	...	15
5.	शिक्षण-विधि और विषय-शिक्षण के कुछ पक्ष	...	35
6.	शैक्षिक सहायक-सामग्री	...	44
7.	मूल्यांकन और पश्चपोषण	...	46
8.	कार्यान्वयन की आवश्यकताएँ एवं दायित्व	...	49
	(क) कार्यान्वयन के लिए प्रशासन	...	49
	(ख) कार्य के क्षेत्र	...	50
	(ग) स्कूलों के दायित्व	...	55
	(घ) समुदाय की सम्पृक्ति	...	57

1

भूमिका

1·1. किसी भी देश का स्कूल-पाठ्यक्रम उसके संविधान की भाँति उसकी आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे राष्ट्र नेताओं ने बार-बार इस बात की ओर संकेत किया है कि ऐतिहासिक दृष्टि से क्लर्कों के उत्पादन के लिए प्रयुक्त साम्राज्य-वादी-सामन्तवादी शिक्षा-प्रणाली के अवशेषों को मिटाकर आधुनिकीकरण की ओर बढ़ते जन-समाज की नई आवश्यकताओं-आकांक्षाओं और माँगों के अनुरूप नई प्रणाली का विकास किया जाना चाहिए। बेसिक शिक्षा-प्रणाली के रूप में महात्मा गाँधी ने भारतीय समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप नई प्रणाली के विकास का एक विकल्प प्रस्तुत किया था। शिक्षा-आयोग (1964-66) की रिपोर्ट में बेसिक शिक्षा के श्रेष्ठतम तत्त्वों को सम्मिलित करते हुए शिक्षा को राष्ट्र के जीवन, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से सम्बद्ध करने के लिए उसके "आन्तरिक परिवर्तन" पर बल दिया गया है। हमारे संविधान में स्थापित मूल्य बहुत्ववादी खुले समाज और प्रकृतया धर्म निरपेक्ष, जनतान्त्रिक और समाजवादी राज्य के विकास की ओर संकेत करते हैं। स्कूल-पाठ्य-क्रम अपनी संरचना, वस्तु, निहित विधि, बल्कि कहना होगा कि अपनी सम्पूर्ण रूपरेखा में, इन उद्देश्यों और मूल्यों को प्रतिलक्षित कराने वाला होना चाहिए।

1·2. उपरोक्त अनुच्छेद में की गई उद्घोषणाओं में संकेतित राष्ट्रीय विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप वर्तमान शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन लाना सुगम नहीं है। देश के स्कूलों में बच्चों की बढ़ती संख्या के दबाव को देखते हुए अच्छी शिक्षा उपलब्ध कराना उत्तरोत्तर कठिन होगा। और यह कार्य हठवादिता और रूढ़िग्रस्तता के कारण और भी कठिन हो गया है। अतः यह अनिवार्य है कि शिक्षण और शिक्षा की नई विधियों को समझा जाए और यह भी समझ लिया जाए कि हमारे समाज में गैर-औपचारिक शिक्षा ज्ञान का बहुत बड़ा स्रोत है और इसका उपयोग होना ही चाहिए। यह जानना भी आवश्यक है कि विद्यालयों में पाठ्यक्रमों, शिक्षण और सीखने की विधियों और सामग्रियों, मूल्यांकन, समय सारिणी, प्रवेश-नीति और उसका पालन, विद्यालय-जगत् और अलग-अलग विद्यालयों के प्रशासन, अध्यापकों की सेवाकालीन तैयारी करने और प्रशिक्षित करने, समुदाय के उपलब्ध स्रोतों का उपयोग तथा इसी प्रकार के अनेक क्षेत्रों में हमें बहुमुखी लचक रखनी होगी। अतः स्कूल में बहुस्तरीय प्रवेश, स्कूल में अंशकालीन-शिक्षा, स्कूल के बाहर गैर-औपचारिक शिक्षा, तथा अनुभवी कर्मकार, शिल्पकार, कलाकार, लेखक द्वारा विद्यालय में शिक्षण आदि सभी बातों

का प्रयोग करना होगा। आज शिक्षा की बढ़ती माँगों को एक समग्र शिक्षा-प्रणाली ही पूर्ण कर सकती है, जिसमें स्कूलों के अन्दर और बाहर, समुदाय में उपलब्ध व्यक्तियों और सामग्रियों का अधिकाधिक उपयोग होगा।

परन्तु यहाँ हम स्कूल में प्रथम दस वर्षों—प्रथम कक्षा से दसवीं कक्षा तक—के पाठ्यक्रम-निर्माण के केवल प्रमुख पक्षों पर ही दृष्टिपात करेंगे।

2

प्रमुख सिफारिशें

2·1. स्वीकृत सिद्धान्तों और मूल्यों की रूपरेखा के अंतर्गत लचक—समाज और व्यक्ति-सापेक्ष पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए उसमें लचक और गतिशीलता का होना अनिवार्य है, अन्यथा तीव्रता से विस्तारमान विज्ञान और तकनॉलॉजी के ज्ञान और हमारे समाज की बदलती सामाजिक-आर्थिक स्थिति के समक्ष किसी भी पाठ्यक्रम का जीवन क्षणिक रह जाने की सम्भावना है। हमारे जैसे विशाल देश में जिसमें अनेक भाषाएँ, सामाजिक रीतियाँ, व्यवहार, सिद्धान्त और अ-समान आर्थिक विकास हैं, स्कूल पाठ्यक्रम पर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के समाज और व्यक्तियों की माँगों के अलग-अलग दबाव होंगे। अतः समान स्तर और राष्ट्रीय पहचान पाने के लिए स्वीकृत सिद्धान्तों और मूल्यों की विस्तृत रूपरेखा के ही अन्तर्गत एक समान-पाठ्यक्रम का विकास अनिवार्य है। यदि इसे स्वीकार नहीं किया जाता तो इस बात की पूरी सम्भावना है कि अलग-अलग प्रान्तों में वास्तविक पाठ्यक्रम "प्रच्छन्न" रूप में निर्धारित पाठ्यक्रम से भिन्न हो। यद्यपि स्कूल में इस प्रच्छन्न पाठ्यक्रम की संभावना को एकदम से समाप्त नहीं किया जा सकता, फिर भी यदि आधारभूत मूल्यों और राष्ट्रीय लक्ष्यों की रक्षा होती रहे, तो अध्यापकों तथा पाठ्यक्रम-निर्माताओं को व्यक्तियों और समुदाय की आवश्यकताओं के अनुरूप पाठ्यक्रम को ढालने की कुछ छूट देकर "प्रच्छन्न" और "निर्धारित" पाठ्यक्रम में अन्तर कम किया जा सकता है। फिर पाठ्यक्रम को यदि जीवन्त और आधुनिक बनाये रखना है, तो यह अनिवार्य है कि वह सदा परिवर्तनशील और विकासमान रहे। पाठ्यक्रम नवीनीकरण छिट-पुट प्रयत्नों या समय अन्तरालों में ही नहीं होना चाहिए। नवीनीकरण किसी भी पाठ्यक्रम के विकास के प्रत्येक चरण का आवश्यक अंग है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्यों (तथा केन्द्र) की शिक्षा-प्रणाली में पाठ्यक्रम-नवीनीकरण की आन्तरिक व्यवस्था होनी चाहिए।

2·2. पाठ्यक्रम जन-जीवन की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरूप हो—जैसाकि शिक्षा-आयोग ने रेखांकित किया है, आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा के स्वरूप को परिवर्तित करके उसे जन-जीवन की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से सम्बद्ध किया जाए और उसे सामाजिक परिवर्तन का एक साधन बनाया जाए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पाठ्यक्रम राष्ट्रीय एकता, सामाजिक न्याय, उत्पादन, समाज के आधुनिकीकरण और सहज और आध्यात्मिक मूल्यों के निर्माण में योगदान प्रदान करने वाला होना चाहिए।

2·3. विज्ञान और गणित : उत्पादन एवं तर्कशील दृष्टिकोण के लिए—इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्कूली शिक्षा में दसवीं कक्षा तक विज्ञान और गणित को पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग होना चाहिए। हमें विज्ञान और गणित का स्तर सुधारना होगा और पाठ्यक्रम का निरन्तर नवीनीकरण भी करते रहना होगा ताकि बच्चों को आधुनिक ज्ञान दिया जा सके, उनकी जिज्ञासा बढ़ाई जा सके, उन्हें खोज की वैज्ञानिक विधि बताई जा सके और उन्हें परिवर्तनशील समाज और संस्कृति में स्पर्धापूर्वक भाग लेने के लिए तैयार किया जा सके। साथ ही विज्ञान और तकनॉलॉजी के बेहतर उपयोग के लिए उन्हें तर्कशील दृष्टिकोण पर अधिकाधिक निर्भर भी बनाया जा सके।

2·4·1. कार्यानुभव : सीखने के स्रोत के रूप में—कार्यानुभव को स्कूली शिक्षा की केन्द्रीय विशेषता होना चाहिए। इसे विज्ञान और तकनॉलॉजी के उपयोग तथा कृषि और उद्योग में उत्पादन से सम्बद्ध किया जाना चाहिए। कार्यानुभव के माध्यम से हाथों के प्रयोग से सीखने, संगठित उत्पादन कार्य में निहित भौतिक वस्तुओं और मानव के सम्बन्धों को समझने की आन्तरिक दृष्टि, लक्ष्यों की सह-प्राप्ति होनी चाहिए। इसके साथ समानता के सिद्धान्त और मानव-प्रकृति की स्वच्छन्दता दोनों के अन्तर्गत सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए अनिवार्य विचार-पद्धति के निर्माण के अवसर प्राप्त होने चाहिए।

2·4·2. अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-आयोग (यूनेस्को) की रिपोर्ट—'लर्निंग टु बि' (स्व के लिए सीखना)—के अनुसार मानव-इतिहास में शिक्षा काफी लम्बे समय से जीवन और कर्म से कटी और अलग-थलग रही है। जब बच्चा स्कूल जाता है तो काम नहीं करता। स्कूली शिक्षा समाप्त करके ही वह काम शुरू करता है और उसके बाद वह शायद ही कभी स्कूल जाता है या उसे आगे शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता है। कर्म और शिक्षा के मध्य यह विरोध अप्राकृतिक है। इसे समाप्त किया जाना चाहिए अतः विद्यालय की समय-सारिणी, विषय, शिक्षण-विधियाँ, परीक्षा, प्रमाणीकरण—बल्कि विद्यालय के सभी पहलू इतने लचीले होने चाहिए कि वह समुदाय के निकट आ सके। तभी स्कूली शिक्षा के अवसर सबके लिए समान हो सकेंगे तथा उच्च-वर्गीय शिक्षा व जन-शिक्षा के बीच की खाई को पाटा जा सकेगा।

2·5. सामाजिक न्याय, जनतांत्रिक मूल्यों, राष्ट्रीय एकता की चेतना—सामाजिक चेतना की जागृति, जनतान्त्रिक मूल्यों का विकास, सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय एकता की भावना अत्यन्त अनिवार्य स्थितियाँ हैं। राष्ट्रीय चेतना की अभि-प्रेरणा और अन्तर्राष्ट्रीय समझ के विकास की प्रक्रियाएँ वस्तुतः अन्तर्सम्बद्ध और एक होनी चाहिए। विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सहनशीलता, मित्रता, सहकारिता और शान्ति तभी सम्भव है जब कि विभिन्न विश्व राष्ट्रों की उन्नति में एक-दूसरे के योगदान को समझा जाये। भारत की विभिन्न उपसंस्कृतियों के वैभिन्य और उन्हें आपस में जोड़े रखने वाले तथा एकता स्थापित करने वाले सूत्रों के ज्ञान व उचित मूल्यांकन के माध्यम से ही राष्ट्रीय एकता स्थापित की जा सकती है। लिंग, जाति, धर्म, भाषा क्षेत्र

पर आधारित भेद भाव को हीन मानना चाहिए क्योंकि यह आधुनिक भारत के निर्माण में अतार्किक, अप्राकृतिक और हानिकर है। सभी विषयों का शिक्षण इस भाँति होना चाहिए कि वैज्ञानिक मानववाद की भावना का विकास हो सके।

2·6. **त्रि-भाषा फार्मूला**—त्रि-भाषा फार्मूले को लागू किया जाना चाहिए, और जहाँ तक सम्भव हो, प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में दी जानी चाहिए। भाषा शिक्षण का उद्देश्य मात्र भाषा पर अधिकार ही नहीं होना चाहिए। भाषा सहिष्णु दृष्टिकोण के विकास और भारत की संश्लिष्ट संस्कृति को समझने का एक सशक्त माध्यम है।

2·7. **कलात्मक-अनुभव और अभिव्यक्ति**—आत्माभिव्यक्ति सौंदर्यात्मक गतिविधि का एक क्षेत्र है। सौंदर्य में रुचि और अन्य कलात्मक अनुभवों के साथ-साथ उसकी पहचान तथा व्यक्तित्व में उसके समावेश की क्षमता समग्र शैक्षिक गतिविधि का अभिन्न अंग होनी चाहिए। प्रत्येक बच्चे को मौलिकता और सर्जनात्मक शक्ति के विकास और संयोजन तथा प्राकृतिक देन, अभिरुचियों और अभिव्यक्ति की निजी शैलियों के अधिकाधिक उपयोग के समान अवसर प्रदान किये जाने चाहिए।

2·8. **शारीरिक शिक्षा**—सौंदर्यात्मक मूल्यों की अभिप्रेरणा में शारीरिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक रूप से सन्निहित है। शरीर तथा उसकी शक्तियों, उसकी विशेषताओं पर अधिकार प्राप्त करने के लिए सम्बन्धित ज्ञान, विधिपूर्ण प्रशिक्षण और व्यायाम अनिवार्य है। शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य शरीर को बलशाली बनाना, उसकी शक्तियों और क्षमताओं का विकास करना, अवयवों और स्नायुओं को विकसित करना, और साफ एवं उचित आहार लेने की आदतों को डालना होना चाहिए।

2·9·1. **चरित्र-निर्माण और मानव मूल्य**—स्कूली-पाठ्यक्रम का केन्द्र चरित्र-निर्माण होना चाहिए। इसका सर्वश्रेष्ठ तरीका बच्चे को आत्मनिर्माण का सही पथ खोजने में सहायता देना, तथा बिना हस्तक्षेप किए उसकी गतिविधियों पर दृष्टि रखकर उस पर चलने के लिए उसे प्रेरित करना, आवश्यकता पड़ने पर उचित सलाह व सहायता देना है। आत्मनिर्माण मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु बच्चे का सामाजिक, मानसिक और नैतिक परिवेश सदा ही इसकी प्रेरणा देने वाला हो ऐसा आवश्यक नहीं है। अतः बच्चे को अपनी क्षमताओं की खोज और उनकी पहचान के लिए प्रेरित करना अनिवार्य है। शैक्षिक गतिविधि इस प्रकार से आयोजित की जानी चाहिए कि प्रत्येक कार्य में बच्चे को आत्माभिव्यक्ति के लिए सदा प्रोत्साहन और सर्वाधिक आनन्द प्राप्त हो।

2·9·2. चरित्र-निर्माण की इस प्रक्रिया के साथ करुणा, सहनशीलता, साहस, निर्णय क्षमता, सूझ-बूझ, दूसरों के प्रति आदर, समूह प्रवृत्ति, सत्य, निष्ठा, कर्त्तव्य-भावना और सर्वमंगल आदि मूल गुणों का विकास भी जुड़ा हुआ है। इन्हें समग्र शैक्षिक गतिविधियों के माध्यम से प्रोत्साहित किया जा सकता है। इन्हें शारीरिक शिक्षा, पाठ्येतर गतिविधि और कार्यानुभव से विशेष रूप से विकसित किया जा सकता है। शारीरिक शिक्षा, खेल-कूद के साथ-साथ समाज-सेवा, स्काउटिंग, गाइडिंग, एन. सी. सी. तथा इसी प्रकार की अन्य गतिविधियों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

2·10. सीखने की प्रक्रिया का आशय—यूनेस्को की रिपोर्ट 'लर्निंग बि' में सीखने की प्रक्रिया, और विशेषतः स्वयं सीखने पर बल दिया गया है। व्यक्ति को बेहतर ढंग से स्वयं सीखने के लिए—केवल विद्यालय के अन्दर ही नहीं बाहर भी—सहायता देने के लिए शिक्षण-विधि को परिवर्तित करना आवश्यक है। छोटे बच्चों को ज्ञान-स्रोतों को उपलब्ध कराना अध्यापक का कार्य है ताकि बच्चा ज्ञान की खोज स्वयं कर सके न कि केवल दी गई जानकारी रटे। इस बात पर स्कूल में, विशेष रूप से पहले पाँच वर्षों में, बल देना आवश्यक है। यह वह समय होता है जबकि ग्रहण-गति तीव्र होती है। हमें इसका लाभ उठाना चाहिए। परन्तु यह वह समय भी है जब बच्चा कैसे सीखे या अपनी जिज्ञासा, सर्जन और खोज का आनन्द कैसे ले, यह सिखाने की बजाय हम उसे इतना लक्ष्यहीन बना दें कि वह स्कूल में कुछ सीखना ही न चाहे। अतः यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि बच्चा सीखने की प्रक्रिया में सम्मिलित हो। परन्तु बच्चे शारीरिक, बौद्धिक और भावात्मक क्षेत्रों में व्यवस्थित और क्रमबद्ध ढंग से बढ़ते हैं। यद्यपि सामाजिक हस्तक्षेप इस विकास-प्रक्रिया में वांछनीय परिवर्तन लाने में सहायक हो सकता है, किन्तु ऐसा परिवर्तन एक सीमा तक ही लाया जा सकता है। ज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र में विषय-वस्तु पर अधिकार प्राप्त करना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि अधिकार प्राप्त करने की विधि। अतः सिखाने और सीखने की प्रक्रिया का विधान ऐसा होना चाहिए कि समस्याओं के हल ढूँढ़ने में बच्चा सक्रिय भाग ले सके। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक बच्चा सीखने और विकास प्राप्त करने की अपनी गति के साथ आगे बढ़ सके। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पाठ्यक्रम निर्धारित नहीं होना चाहिए, वरन् यह कि पाठ्यक्रम-संरचना में विकास सम्बन्धी इस सत्य का ध्यान रखा जाना चाहिए। तो शिक्षा ऐसी होनी ही नहीं चाहिए कि बच्चे पर अनेकानेक पुस्तकों अथवा पाठ्य सामग्री का बोझ पड़े। अकर्मक शिक्षा-ग्रहण और रटने की पद्धति के स्थान पर स्वयं शिक्षा ग्रहण करने की ऐसी क्रियाशील पद्धतियों का व्यवहार किया जाना चाहिए जिनके द्वारा बच्चे की रुचियों के विस्तार का ध्यान रखा जा सके और बच्चों को अपनी गति से सीखने और विकास करने की छूट भी मिली रहे। इस परिवर्तन के द्वारा शिक्षा के व्यय को भी कम किया जा सकता है।

2·11. स्कूल छोड़ देने वाले विद्यार्थी और बहुस्तरीय प्रवेश—पाठ्यक्रम के कुछ और पक्ष भी हैं जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए। हमें समाज के पिछड़े वर्गों के बच्चों तथा लड़कियों के विषय में विशेष रूप से सोचना होगा। उनकी संख्या कम नहीं है और वे या तो स्कूल में प्रवेश ही नहीं लेते अथवा कुछ समय तक उपस्थित रह कर छोड़ जाते हैं। यद्यपि इस बात के प्रयत्न किए जा रहे हैं कि अंशकालिक अथवा गैर-औपचारिक-शिक्षा-पद्धति का विकास किया जाये, फिर भी स्कूली शिक्षा-संगठन में कई सुधारों की आवश्यकता है। प्रवेश-मानों और स्कूल के कार्यकाल का परिवर्तन (कटाई या अन्य उत्पादन कार्यों के समय के अनुसार) इत्यादि ऐसे ही सुधार हैं। इनके द्वारा उन लोगों को विभिन्न स्तरों पर प्रवेश की सुविधा दी जा सकती है जो गैर-औपचारिक कार्यक्षेत्रों के होते हैं और स्कूली-शिक्षा प्राप्त करने में

असमर्थ हो जाते हैं। इस सुविधा से ऐसे असमर्थ लोगों की संख्या कम की जा सकती है।

2·12. **उपसत्रीय (सिमेस्टर) प्रणाली**—इसी प्रकार वर्तमान पाठ्यक्रमों को भी परिवर्तित करना होगा। ये इस समय प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान हैं और विषय और व्यक्ति की प्रगति की दृष्टि से एक-वर्षीय सत्र के कारण लचकहीन हैं। इसके विपरीत उपसत्रीय पाठ्यक्रम शिक्षण-परिस्थितियों में सुधार लाने में तथा पाठ्यक्रम के अन्त में मूल्यांकन का दबाव कम करने में सहायक होंगे।

2·13. **उपसत्रीय पाठ्यक्रम की इकाइयाँ**—कक्षा-विशेष के सम्पूर्ण पाठ्यक्रम के "विषयों" को लघु इकाइयों में विभाजित करके इस लचकहीनता को कम किया जा सकता है तथा शिक्षण तथा मूल्यांकन में भी सुधार लाया जा सकता है। इस प्रकार सम्बद्ध विषयों के प्रति लाभप्रद दृष्टिकोण बनाने के लिए शिक्षण-प्रक्रिया में एक सार्थक, तार्किक और उचित क्रम स्थापित किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से ज्ञान की बहु-पक्षीयता विद्यार्थी के समक्ष स्वयं स्पष्ट हो जाएगी, जिसे वह समस्याओं और स्थितियों पर विषयगत-दृष्टि से विचार करने पर बिलकुल पकड़ नहीं पाता। वास्तव में कालान्तर के जीवन में समस्याओं का गहराई से परीक्षण बहु-विषयी अध्ययन से ही हो सकता है। इकाई-दृष्टिकोण का एक लाभ और भी है। वह यह कि स्वास्थ्य, स्वच्छता, पोषण, जनसंख्या-अध्ययन, प्रदूषण, जल-स्रोत, मनोविज्ञान और संस्कृति के तत्त्वों को समझने में आसानी होती है। इन्हें आधुनिक पाठ्यक्रम में स्थान मिलना ही चाहिए क्योंकि ये स्वयं में बहुपक्षीय होते हैं।

2·14. **मूलभूत पाठ्यक्रम और उससे अवान्तरण**—यह आशा की जाती है कि इन लक्ष्यों और आदर्शों पर आधारित मूलभूत पाठ्यक्रम का सामान्य-शिक्षण के कार्यक्रम के लिए विस्तृत रूप तैयार करके सभी माध्यमिक स्कूलों द्वारा लागू किया जाएगा। फिर भी प्रतिभावान, पिछड़े हुए और गैर-औपचारिक क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना होगा। जहाँ सम्भव हो स्कूलों को उन विद्यार्थियों के लिए अलग इकाइयों की स्थापना करनी होगी जो गणित, गृह-विज्ञान, चित्रकला आदि में रुचि रखते हों अथवा जो किसी विषय में उच्च प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहते हों। कमजोर स्कूलों अथवा गैर-औपचारिक-शिक्षा क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थियों को उपचार-इकाइयों अथवा सेतु-इकाइयों की आवश्यकता भी पड़ सकती है। विशिष्ट विद्यालयों को उन विद्यार्थियों के लिए ऐसी इकाइयाँ भी उपलब्ध करानी होंगी।

2·15. **मूल्यांकन**—वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में या तो बिना किसी परीक्षा के सब विद्यार्थियों को उत्तीर्ण कर दिया जाता है अथवा प्रत्येक विषय की वार्षिक परीक्षा लेकर बच्चों को इस बात के लिए अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरित किया जाता है कि वे कुछ समय लगाकर अधपची जानकारी को रट लें और बाद में भूल जाएँ। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा के प्रत्येक स्तर के लिए उद्देश्यों को निश्चित किया जाए; फिर उसके अनुसार इकाई-शृंखला के रूप में पाठ्यक्रम रखा जाए। इस प्रकार

प्रत्येक इकाई का पृथक् मूल्यांकन करके वर्ष के अन्त में पड़ने वाले परीक्षा के भार को कम किया जा सकता है। आवश्यक साधनों और विधियों का प्रयोग केवल विद्यार्थियों के कार्य में ही नहीं, बल्कि समग्र शिक्षा-प्रक्रिया के मूल्यांकन के लिए किया जाना चाहिए। और जहाँ तक सम्भव हो विद्यार्थियों को दण्ड के तौर पर अनुत्तीर्ण करने की अपेक्षा आवश्यकतानुसार उनकी कमियों को उपचार-पाठ्यों द्वारा दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्यों-ज्यों आन्तरिक-मूल्यांकन प्रणाली जड़ पकड़ती जायेगी और स्तर को गिराने वाली व्यक्तिगत द्वेष भावना दूर होती जायेगी, त्यों-त्यों (दसवीं कक्षा के अन्त में भी) बाह्य-लोक-परीक्षा अनावश्यक होती जाएगी। आन्तरिक मूल्यांकन प्रणाली का विकास करने के बाद बाह्य परीक्षा को भी समाप्त कर देना होगा। प्रत्येक बोर्ड/राज्य को इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक क्रमिक कार्यक्रम निश्चित करना चाहिए।

2·16·1. पाठ्य पुस्तकें और सहायक/अतिरिक्त सामग्री—प्रस्तुत प्रलेख में यह सुझाव दिया गया है कि अध्यापकों—विशेषतः प्राथमिक कक्षाओं के लिए अध्यापक-दर्शिकाओं (गाइड) और पूरक पठन-सामग्री को उपलब्ध कराना अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह संकेत भी दिया गया है कि प्रत्येक विषय-क्षेत्र को अपने तरीके से शिक्षा के मूल उद्देश्यों और लक्ष्यों को प्राप्त करने में सक्षम होना चाहिए। पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग इन्हीं सुझावों के अनुरूप करना चाहिए। उदाहरण के लिए सामाजिक न्याय या राष्ट्रीय एकता के प्रश्नों को, केवल सामाजिक ज्ञान या इतिहास और नागरिकशास्त्र की पुस्तकों के संदर्भ में ही न जाँच कर कल्पना-शीलता से ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार लिंग-समानता अथवा छुआछूत के प्रति दृष्टिकोण का प्रश्न है। इसे सामाजिक-विज्ञानों और प्रकृत विज्ञानों दोनों के अन्तर्गत समान रूप से विवेचित किया जा सकता है। पाठ्य पुस्तकें विद्यार्थी को केवल सूचनाएँ प्रदान करने वाली नहीं होनी चाहिएँ। वे ऐसी होनी चाहिएँ कि उसमें सीखने की लालसा और खोज की प्रवृत्ति उत्पन्न हो। इस जिज्ञासा को पूरक-पठन-पुस्तकों के माध्यम से शान्त किया जाना चाहिए। इसके लिए लेखकों और प्रकाशक दोनों को पाठ्यक्रम के प्रति नए दृष्टिकोण से अवगत कराना होगा ताकि पाठ्य पुस्तकें और अन्य सामग्रियाँ शिक्षा की प्रक्रिया में वांछित योग दे सकें।

2·16·2. ऊपर व्याख्यायित इकाइयों के स्वरूप में दोतरफा लाभ की सम्भावनाएँ हैं। प्रथमतः कक्षा-विशेष अथवा वर्ष भर के अध्ययन की इकाइयों को एक ही खण्ड में पाठ्य पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करके विद्यार्थी पर पुस्तकों के बोझ को कम किया जा सकता है। द्वितीयतः, इकाई-दृष्टिकोण के माध्यम से पूरे देश के लिए सर्वमान्य इकाइयों का निर्माण किया जा सकता है। एक ओर कागज और पैसे की कमी तथा दूसरी ओर एक ही राज्य में कई-कई भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित करने की वर्तमान आवश्यकता के कारण शिक्षाविद देशभर के लिए एक मूलभूत पाठ्यक्रम की सम्भावनाओं की खोज की ओर प्रवृत्त हुए हैं। सर्वमान्य शिक्षा उद्देश्यों और आदर्शों की रूपरेखा इस वांछा को और बलवती बनाएगी। इसके लिए पुस्तकों की कुछ

इकाइयाँ पूरे देश के लिए समान होंगी तथा कुछ राज्यों द्वारा अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप निर्मित की जा सकती हैं। कुछ इकाइयाँ ऐसी हो सकती हैं जो सामान्यतः समय की गति के साथ परिवर्तित नहीं होतीं, जैसे भौतिकी में अथवा स्वतन्त्रता-पूर्व के इतिहास में, और कुछ ऐसी भी हो सकती हैं जो समय के साथ-साथ परिवर्तनशील होती हैं, जैसे ब्रह्माण्ड की खोज में मानव की प्रगति अथवा भारत का संविधान। इन समस्याओं पर निःसन्देह नयी दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है।

2·17·1. उपरोक्त विधि से दस-वर्षीय-पाठ्यक्रम का विकास करने के लिए जिले से लेकर केन्द्र तक व्याप्त संस्थानों और उनके स्रोतों का प्रत्येक स्तर पर समायोजन और उपयोग अनिवार्य होगा। विश्वविद्यालयों, राज्यों के शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थानों और विशेष रूप से राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् को मिलकर काम करना होगा। शैक्षिक प्रशासन और विशेषतः राज्यों में विद्यालयों के निरीक्षण और निर्देशन में आवश्यक सुधार करने होंगे। राज्यों में प्रयोग में लाए जाने वाले पाठ्यक्रम में पूर्व-विवेचित गुणों का समावेश तभी किया जा सकता है।

2·17·2. पाठ्यक्रम में अन्तरसंगति और उचित एकरूपता और लचक की सीमा का निर्धारण सावधानी से किया जाना चाहिए क्योंकि देश में अभी विकास के अलग-अलग स्तर, उप-संस्कृतियां, प्रान्तीय मतैक्य आदि शेष हैं। इस दृष्टिकोण को लचकीला बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए अध्यापकों को यह प्रेरणा देनी चाहिए कि वह एक विशाल और सामान्य रूपरेखा के अन्तर्गत शिक्षा को व्यक्ति-स्तर पर लाने का प्रयत्न करे। परन्तु इसके लिए अध्यापक को इतनी स्वच्छन्दता देनी होगी कि वह निजत्व को बनाए रख सके। परिवेश की शिक्षा, अध्यापकों के लिए आन्तरिक और बाह्य मूल्यांकन सम्बन्धी दिशा-निर्देश, पाठ्यक्रम-विकास में अध्यापकीय सहयोग, अध्यापकों और स्कूल-संश्लेषण-योजना के अन्तर्गत स्कूलों में प्रयोग और खोज की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन, स्थानीय स्रोतों के बृहदतर उपयोग, स्थानीय समुदाय के सहभाग तथा अध्यापक-प्रशिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रम में संशोधन सम्बन्धी प्रस्तावों पर इसी संदर्भ में विचार किया जाना चाहिए।

2·17·3. पाठ्यक्रम स्कूल द्वारा बच्चे को प्रदान किए जाने वाले सप्रयत्नज और योजनाबद्ध शिक्षा-अनुभवों का कुल योग होता है। इस रूप में इसमें निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं :

(i) स्तर-विशेष या कला-विशेष के संदर्भ में शिक्षा के सामान्य उद्देश्य।
(ii) विषयानुसार शैक्षणिक उद्देश्य और विषय-वस्तु।
(iii) पाठ्य विषय और समय विभाजन।
(iv) अधिगम-अध्यापन-अनुभव।
(v) सहायक सामग्रियाँ।
(vi) अधिगम-परिणामों का मूल्यांकन तथा विद्यार्थियों, अध्यापकों और अभिभावकों का पश्चपोषण।

2·18. विकास और अनुसंधान—पाठ्यक्रम में इन विशेषताओं को भली भाँति संयोजित और सुसम्बद्ध करके तथा उनकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए, उसके विकास के लिए योजनाबद्ध और अविरल प्रयत्नों से पूर्ण एक लम्बी अवधि अनिवार्य है। इसे प्रायोगिक और क्रियाशील बनाने के लिए वास्तविक प्रयोग और अनुसन्धान भी अनिवार्य है। अतः राज्यों तथा केन्द्र प्रशासित प्रदेशों में इसकी कार्यान्विति के सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए ही इसके विकास के लिए सुविचारित और क्रमबद्ध कार्यक्रम पर काम किया जाना चाहिए।

3

सामान्य शिक्षा के स्तरानुसार उद्देश्य

3·1. यदि शैक्षिक योजनाकारों, प्रशासकों, निरीक्षकों और अध्यापकों के मार्ग-दर्शन के लिए स्तर और विषय के अनुसार सामान्य शिक्षा के विस्तृत उद्देश्यों को स्पष्ट न किया जाए, तो उनका लाभ सीमित हो जाता है।

प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्य

3·2. शिक्षा के इस स्तर पर मोटे तौर से पहली से पाँचवीं कक्षा तक पढ़ने वाले 6+ से 11+ तक की आयु के बच्चे होते हैं। कुछ क्षेत्रों में आयु 5+ से 10+ भी हो सकती है। कुछ स्थानों पर कक्षाएँ प्रथम से चतुर्थ तक और आयु 5 से 9 वर्ष अथवा 6 से 10 वर्ष भी हो सकती है। परन्तु आगे दी गई सामान्यताएँ वैसी ही रहेंगी। बच्चे के जीवन में यह आयु बहुत महत्त्वपूर्ण है। बच्चे की प्रत्युन्नति, जिज्ञासा, सर्जन शक्ति और क्रियाशीलता आदि में लचकहीन और अनाकर्षक शिक्षण-विधि और परिवेश के कारण रुकावट नहीं आनी चाहिए। पाठ्यक्रम में बच्चे की सामाजिक, बौद्धिक, भावनात्मक और शारीरिक परिपक्वता तथा समुदाय की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाना चाहिए। इस विषय में प्रत्येक बच्चे की सफलता की सीमाओं को यथार्थ दृष्टि से समझना और प्रत्येक स्कूल के लिए इस न्यूनतम सीमा का अतिक्रमण करके परिस्थितियों के अनुसार अधिक सफलता प्राप्त करने के अवसर प्रदान करना लाभदायक होगा। इसमें लचक और स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार अनुकूलन का पर्याप्त स्थान होना चाहिए। यहाँ यह संकेत करना अनिवार्य लगता है कि बहुत से बच्चों के लिए प्राथमिक स्तर ही अन्तिम भी होता है। अतः उन्हें ऐसी शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है जो उन्हें अपने जीवन के लिए तथा स्वयं सीखने के लिए तैयार कर सके। इस स्तर पर शिक्षा के उद्देश्य इस प्रकार हैं :

3·2·1. प्रथम उद्देश्य है साक्षरता। बच्चे को प्रथम भाषा सिखाई जानी चाहिए। यह भाषा सामान्यतः मातृभाषा होनी चाहिए। प्रथम भाषा का स्तर इतना अवश्य होना चाहिए कि वह औरों से वार्तालाप करके या लिख कर अपनी बात भली भाँति कह सके।

3·2·2. दूसरा उद्देश्य है अंक-ज्ञान। बच्चे को चार मूलभूत संख्यात्मक क्रियाओं का ज्ञान हो जाना चाहिए। अपने सामुदायिक जीवन में व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में उनका उपयोग करना उसे आ जाना चाहिए।

3·2·3. तीसरा उद्देश्य है तन्त्र-ज्ञान। बच्चे को विज्ञान समझने की विधि आ जानी चाहिए और उसे इतना ज्ञान होना चाहिए कि वह अपने जीवन और आसपास के वातावरण में विज्ञान और यन्त्र का महत्त्व समझ सके।

3·2·4. बच्चे में झण्डे और राष्ट्रगान जैसे राष्ट्रीय प्रतीकों, देश की जनतान्त्रिक पद्धति और संस्थाओं का आदर करने की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। उसे भारत की संश्लिष्ट और बहुवादी संस्कृति का ज्ञान होना चाहिए और उसमें छुआछूत, जाति-पाँति और साम्प्रदायिकता को निम्न कोटिक समझने की भावना भी उत्पन्न होनी चाहिए।

3·2·5. बच्चे में हाथ से काम करने को अच्छा समझने का दृष्टिकोण भी उत्पन्न होना चाहिए।

3·2·6. बच्चे में स्वच्छता और स्वस्थ जीवन जीने की आदत और अपने पास-पड़ोस की स्वच्छता और स्वास्थ्य के प्रति समझ भी विकसित होनी चाहिए।

3·2·7. बच्चे में अच्छे और सुन्दर के प्रति आकर्षण-भाव उत्पन्न होना चाहिए और उसे यह भी पता लगना चाहिए कि अपने वातावरण का ध्यान कैसे रखा जाए।

3·2·8. बच्चे में सहकारिता की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। सार्वजनिक लक्ष्यों के लिए मिल कर काम करने में लाभ होता है—उसमें यह समझ भी उत्पन्न होनी चाहिए। एक व्यक्ति के रूप में परिवार, स्कूल और परिवेश में अपनी भूमिका की चेतना के साथ-साथ बच्चे में पहल, नेतृत्व, दया, ईमानदारी जैसी वांछित चारित्रिक विशेषताओं का विकास भी होना चाहिए।

3·2·9. बच्चे में सर्जनात्मक कार्यों के माध्यम से अभिव्यक्ति की क्षमता उत्पन्न होनी चाहिए और उसे स्वयं सीखने की आदत भी पड़नी चाहिए।

मिडिल स्तर पर शिक्षा के उद्देश्य

3·3·1. छठी से आठवीं कक्षा तक मिडिल स्तर होता है जिसमें आयु सामान्यतः 11+ से 14+ होती है। इन वर्षों में बच्चे तरुणावस्था की ओर बढ़ते हैं। यह आयु बहुत से बच्चों के लिए जटिल भी हो सकती है। इस आयु में परिवार, स्कूल और समाज के साथ सामंजस्य की समस्याएँ भी उत्पन्न होने लगती हैं। किन्तु बच्चा प्राथमिक स्कूल के विद्यार्थी की अपेक्षा वृहद् बौद्धिक, भावनात्मक, सामाजिक और शारीरिक प्रौढ़ता के साथ लड़का अथवा लड़की बन जाता है। सामाजिक माँगें और उत्तरदायित्व भी प्रकट होने लगते हैं। बहुत से लड़के और लड़कियों के शिक्षा का यह स्तर अन्तिम सिद्ध होता है और इसके बाद वे जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं।

अत: उनमें जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने की क्षमता उत्पन्न की जानी चाहिए। जिन उत्पादन-कार्यों में उन्हें संलग्न होना है, उनमें भाग लेने की क्षमता और उनके प्रति उचित दृष्टिकोण का भी उनमें विकास होना चाहिए।

3·3·2. अत: इस अवस्था में इतिहास, भूगोल और अन्य विषयों के सही अध्ययन पर आधारित समझ का बच्चों में विकास होना चाहिए। उन्हें देश के संविधान और उसमें निहित मूल्यों का ज्ञान होना चाहिए। उन्हें देश की जन-तान्त्रिक प्रक्रियाओं, ढाँचों और संस्थाओं की अच्छी जानकारी होनी चाहिए। उनकी समझ को विश्व-संस्कृति और सभ्यता के ज्ञान के माध्यम से अधिक विस्तृत और गहरा किया जाना चाहिए।

3·3·3. इस अवस्था में द्वितीय भाषा भी पढ़ाई जानी चाहिए ताकि बच्चे समाज और राष्ट्र के कामों में अधिक भाग ले सकें। बच्चे में द्वितीय भाषा के सामान्य वाक्यों तथा गद्य और पद्य की सुगम रचनाओं को समझने की क्षमता उत्पन्न होनी चाहिए। परन्तु इस अवस्था में प्रथम भाषा पर उसका अधिकार बढ़ना चाहिए और उसमें साहित्य को समझने की क्षमता उत्पन्न होनी चाहिए।

3·3·4. विज्ञान के क्षेत्र में भौतिक विज्ञान और जीव-विज्ञान भी सम्मिलित किए जाने चाहिएँ। साथ ही विज्ञान और जीवन का सार्थक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए परिवेश-शिक्षा, पोषण, स्वास्थ्य और जनसंख्या-शिक्षा पर भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। इस आयु में कार्यानुभव के क्षेत्र में उत्पादन तथा सामुदायिक जीवन के साथ विज्ञान, गणित और तकनॉलॉजी को सुसम्बद्ध करने के लिए कृषि तथा तकनॉलॉजी की प्रक्रियाओं और साधनों के उपयोग पर बल दिया जाना चाहिए।

निम्न-माध्यमिक-शिक्षा के उद्देश्य

3·4·1. निम्न माध्यमिक-शिक्षा के स्तर पर केवल दो कक्षाएँ नवीं और दसवीं होती हैं। इसमें आयु-सीमा 14+ से 16+ होती है। ये दो कक्षाएँ दस-वर्षीय सामान्य शिक्षा को पूर्ण करने वाली हैं। इसके पश्चात् विद्यार्थियों के समक्ष तीन सम्भव विकल्प होते हैं—(क) वे श्रमिक-शक्ति का अंग बन सकते हैं, (ख) वे तकनीकी कक्षाओं में प्रवेश ले सकते हैं, और (ग) वे महाविद्यालय या विश्वविद्यालय की डिग्री-कक्षाओं के प्रथम वर्ष में प्रवेश प्राप्त करने योग्य बनने के लिए उच्चतर अकादमिक कक्षा में प्रवेश ले सकते हैं। अत: नवाँ और दसवाँ वर्ष उपरोक्त विकल्पों में से पहला विकल्प (क) चुनने वाली एक बड़ी संख्या के लिए अन्तिम शिक्षा-वर्ष प्रमाणित होते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि मिडिल स्तर के बाद उनकी शिक्षा का स्तर इतना हो कि वे जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करने योग्य बन सकें। इसका तात्पर्य यह है कि मिडिल स्तर पर प्रारम्भ की जाने वाली लाभदायक जानकारी और दक्षता, काम की अच्छी आदतों, उत्पादन और राष्ट्रीय एकता बढ़ाने वाले दृष्टिकोण और चरित्र का विकास करने की प्रक्रिया को द्रुत बनाकर विकास के सन्तोषजनक स्तर तक लाया जाना चाहिए। शिक्षा-आयोग ने इस संदर्भ में योग्यता का वह न्यूनतम राष्ट्रीय स्तर निर्धारित किया है जिससे देश और समाज के पिछड़े हुए क्षेत्र और वर्ग अन्य लोगों से सरलता से प्रतियोगिता कर सकें। अत: निम्न कक्षाओं से शिक्षा के

उद्देश्यों की निरन्तरता बनाए रखते हुए उत्पादनात्मक सामाजिक कार्यों के लिए जानकारी और प्रवीणता प्रदान करने के साथ-साथ अकादमिक विषयों पर भी आवश्यक ध्यान दिया जाना चाहिए। किन्तु, ये दो वर्ष व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मिडिल स्तर पर बच्चे को तरुण अवस्था के प्रारम्भिक बिन्दु से ही सामंजस्य की समस्याओं से जूझना पडता है और ये समस्याएँ इसी अवस्था में अधिक जटिल होती हैं। यह भी सत्य है कि विद्यार्थी जीवन से समाज के उत्पादक-व्यक्ति की श्रेणी में उसके संचरण के अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता है। अतः यह आवश्यक है कि बच्चे को अपनी समस्याओं को समझने की मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि तथा अपना और आसपास के व्यक्तियों का आचार-व्यवहार समझने में सहायक जानकारी प्रदान की जाए।

3·4·2. विज्ञान और गणित के क्षेत्र में विद्यार्थी में इतनी क्षमता उत्पन्न हो जानी चाहिए कि वह अपने ज्ञान का प्रयोग अपने वातावरण की समस्याओं के हल ढूँढ़ने में कर सके। उसे अपने आसपास कृषि और उद्योग में प्रयुक्त तकनॉलॉजिकल विधियों का ज्ञान भी होना चाहिए। उसमें इतनी योग्यता भी आनी चाहिए कि परिवेश-संरक्षण, प्रदूषण को कम करने, तथा समुदाय में उचित पोषण, स्वास्थ्य और स्वच्छता की चेतना विकसित करने में वह अपना सार्थक योगदान कर सके। उसमें बच्चों के पालन-पोषण की सही आदतें और दृष्टिकोण के विकास एवं घर में सुधार करने में सहायता देने की योग्यता भी होनी चाहिए।

3·4·3. बच्चे में इस आयु तक कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करने योग्य आवश्यक ज्ञान और प्रवीणता का विकास हो जाना चाहिए। उसे एक या दो उपयोगी शिल्प सीख लेने चाहिएँ। किन्तु यह भी उतना ही आवश्यक है कि उसे कार्य क्षेत्र में प्रयुक्त सामग्रियों, यन्त्रों, तकनीकों और प्रक्रियाओं की आवश्यक जानकारी दे दी जाए ताकि वह जीवन में आत्मविश्वास के साथ प्रवेश कर सके।

3·4·4. प्रथम भाषा का इतना ज्ञान होना चाहिए कि उसके साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नमूनों को वह समझ सके। इस स्तर पर सर्जनात्मक लेखन का प्रारम्भ भी हो जाना चाहिए। द्वितीय भाषा का ज्ञान इस स्तर तक अवश्य मिलना चाहिए कि वह स्वयं को उसमें भली भाँति अभिव्यक्त कर सके। तृतीय भाषा उस स्तर तक सिखाई जानी चाहिए कि विद्यार्थी सुगम पाठ को पढ़कर समझ सके और उसके अर्थ को व्यक्त कर सके।

3·4·5. इतिहास और भूगोल जैसे विषयों के अध्ययन के साथ-साथ विद्यार्थी में यह समझ भी विकसित होनी चाहिए कि वह अपने देश का ही नहीं बल्कि अन्य देशों—विशेषतः पड़ौसी देशों—की सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं को समझ सके। पाठ्यक्रम और पाठ्यक्रमेतर गतिविधियों, शारीरिक शिक्षा, खेल-कूद आदि के माध्यम से उसमें दया, सहकारिता, समूह भावना, सहयोग, नेतृत्व, साहस, सत्य, ईमानदारी और उत्तरदायित्व आदि वांछित सामाजिक गुण उत्पन्न होने चाहिएँ। उसमें राष्ट्रीय और नागरिक सम्पत्ति के मूल्य को समझने और उसके संरक्षण की योग्यता उत्पन्न होनी चाहिए। जनतन्त्र, धर्म-निरपेक्षता और समाजवाद के सिद्धान्त उसके सामने स्पष्ट हो जाने चाहिएँ।

4

विषयानुसार शिक्षा-उद्देश्य और विषय वस्तु

4·1. विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के उद्देश्यों को मोटे तौर पर परिभाषित करने के पश्चात् अगला कदम शिक्षा-अनुभवों के सम्पादन की योजना बनाना है। विद्यालय में विषयों के अध्यापन के साथ-साथ अन्य गतिविधियों से भी शिक्षा-अनुभव मिलते हैं। अतः अब इन सब पर विचार करने की आवश्यकता है कि कौन-से विषय पढ़ाये जाने चाहिएँ, प्रत्येक विषय से किन उद्देश्यों को प्राप्त करना है, स्कूल में उपलब्ध स्रोतों की सीमा में ही विद्यार्थियों को यथासम्भव श्रेष्ठ अनुभव देने के लिए किन विधियों और सामग्रियों का उपयोग करना चाहिए तथा पाठ्यक्रम और पाठ्येतर गतिविधियों के लिए समय-विभाजन और विभिन्न पाठ्यक्रम क्षेत्रों की समय-सारिणी, सब कैसे बनायी जाएँ। इस पर भी सोचने की आवश्यकता है कि किन बातों का मूल्यांकन करना है, कब-कब करना है, कौन करेगा, और यह किस विधि से होगा। यहाँ हम विभिन्न पाठ्य-विषयों के उद्देश्यों और विषय-वस्तु पर विचार करेंगे और कार्यक्रम-निर्माताओं के मार्ग दर्शन के लिए कुछ संकेत भी देंगे।

4·2. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्कूली शिक्षा के प्रथम दस वर्ष सब विद्यार्थियों की सामान्य शिक्षा की आधार-भूमि के निर्माण में लगाये जाने चाहिएँ। इस उद्देश्य के लिए प्रस्तावित पाठ्य-विषय इस प्रकार हैं :

(i) विज्ञान
(ii) गणित
(iii) कार्यानुभव
(iv) सामाजिक विज्ञान
(v) भाषाएँ
(vi) कला, संगीत और अन्य सौन्दर्यात्मक गतिविधियाँ
(vii) स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा।

4·3. यह सूची यह सोच कर पूर्ण नहीं मान लेनी चाहिए कि विद्यालय में यही उपलब्ध कराया जा सकता है। विद्यार्थियों को पाठ्येतर कार्यक्रमों और पूरक पठन अध्ययन द्वारा और अनुभव भी उपलब्ध कराये जाने चाहिएँ। प्रत्येक सत्र में शिक्षण और मूल्यांकन की कई विषय-इकाइयों वाली उपसत्रीय प्रणाली के विकास के साथ स्कूलों में काफी लचक उत्पन्न की जा सकती है। विद्यार्थियों को विभिन्न रुचियों एवं योग्यताओं की अभिव्यक्ति के अवसर भी दिए जा सकते हैं। इस प्रकार की लचकीली प्रणाली में समाज के पिछड़े वर्गों के बच्चों एवं प्रतिभावान बच्चों के लिए विशेष

रूप से विशिष्ट पाठ्यक्रमों के संचालन का अवसर रहेगा। बहुस्तरीय प्रवेश तथा अंशकालिक शिक्षा भी इस प्रणाली में सुगम होगी। परन्तु बल पाठ्य पुस्तकों की सामग्री और अभ्यासों की परम्परागत पुनरावृत्ति की अपेक्षा शिक्षा-प्रक्रिया पर ही दिया जाना चाहिए। सम्बद्ध इकाइयों के लिए शिक्षण सामग्रियाँ तैयार करने मे अध्यापकों का सहयोग भी महत्त्वपूर्ण है। प्राथमिक स्तर पर पाठ्य-पुस्तकों की संख्या कम होनी चाहिए। एक उपसत्र के लिए एक ही पाठ्यक्रम की सम्भावना की खोज करनी चाहिए। यह तभी किया जा सकता है जबकि विषयों की विभिन्नता की बजाय पहली से पाँचवीं कक्षा तक एकीकृत-पाठ्यक्रम हो। इसके लिए इकाइयों के विकास में अन्तर्विषयी-दृष्टिकोण की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए भाषा-शिक्षा को केवल भाषा की कक्षाओं तक ही सीमित नहीं समझा जाना चाहिए। अन्य विषयों के अध्यापन के समय भी भाषा-शिक्षा काफी समय तक चलती रहती है। बच्चों के लिए 'पायोनियर पैलेस' जैसी गतिविधियाँ उपलब्ध कराने का प्रयत्न करना चाहिए। ये गतिविधियाँ वे स्वयं चुनेंगे और इनसे उनके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायता मिलेगी।

विज्ञान

4·4. स्कूली विद्यार्थियों की सामान्य-शिक्षा-योजना में विज्ञान का महत्त्व स्थापित करने के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है। विज्ञान परिव्यापी है। आधुनिक समाज विज्ञान पर आधारित है। विज्ञान उत्पादन-साधनों तथा यातायात सहित सम्पूर्ण संचार-व्यवस्था का अंग है। यहाँ तक कि अर्थव्यवस्था और राजनीति भी कृषि और उद्योगों, आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति, स्थल और वायु-सेनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना जैसे वैज्ञानिक कारणों पर निर्भर करती है। अतः किसी भी क्षेत्र से सम्बद्ध हो वर्तमान परिस्थितियों में उसे विज्ञान और तकनॉलॉजी का कुछ ज्ञान अवश्य होना चाहिए। दूसरे वैज्ञानिक विधियाँ विज्ञान से बाहर भी प्रयुक्त होती हैं। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र वैज्ञानिकता से परिपूर्ण होता जा रहा है। निरीक्षण, प्रतीकात्मक, बिन्दु रेखीय अथवा भाषा-विज्ञान के नमूने तैयार करने, प्रयोगों की रूपरेखा बनाने, उपलब्ध आँकड़ों से सिद्धान्तों की निष्पत्ति में तर्क और कल्पना के प्रयोग, निष्पत्तियों का परीक्षण करते समय वस्तुगत दृष्टिकोण बनाये रखने की विधि ऐसी विधि है जिसका हस्तक्षेप प्रत्येक क्षेत्र में है। हो सकता है कि आज के तथ्य कल के तथ्य न रहें और सिद्धान्तों, निष्पत्तियों में परिवर्तन हो जाएँ, किन्तु वैज्ञानिक विधि को हम छोड़ नहीं सकेंगे।

4·5. हर प्रकार की ज्ञान-विरोधी प्रवृत्तियों और लिंग, जाति, धर्म, भाषा या प्रान्त पर आधारित पूर्वाग्रहों को कम करने में विज्ञान की सहायता लेनी होगी। तार्किक दृष्टिकोण पर बल देते हुए ही जनतान्त्रिक, धर्म निरपेक्ष और समाजवादी राष्ट्र का निर्माण करने में विज्ञान की सहायता लेनी होगी।

4·6. प्राथमिक कक्षाओं में विज्ञान परिवेश-अध्ययन के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए : प्रथम और द्वितीय कक्षाओं में प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश के संश्लिष्ट

रूप में, और बाद में दो विषयों के रूप में, अर्थात् परिवेश-अध्ययन I (सामाजिक अध्ययन) और परिवेश-अध्ययन II (सामान्य विज्ञान)। किस कक्षा में कितना अध्ययन कराया जाना चाहिए, इसकी सीमा निर्धारित करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। हमारा उद्देश्य बच्चों के मस्तिष्क को तथ्यों और सूचनाओं से भरना नहीं वरन् उनकी ग्रहण-शक्तियों को तीव्र करना होना चाहिए ताकि वे अपने परिवेश का निरीक्षण करके अनुभव प्राप्त करने में सक्षम हो सकें।

4·7. यहाँ यह संकेत भी कर देना चाहिए कि चूँकि विद्यालय से बाहर बच्चों का परिवेश और अनुभव स्थानानुसार अलग-अलग होते हैं, इसलिए स्कूल की गति-विधियों में भी अन्तर होना चाहिए ताकि ज्ञान केवल सूक्ष्म स्वरूप पर ही नहीं बल्कि परिवेश से लिए गए अनुभवों की ठोस आधार-भूमि पर भी आधारित हो सके। इस प्रकार की योजना में सब स्कूलों के लिए एक ही लचकहीन पाठ्यक्रम तैयार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः यह आक्षेप कि हमारी विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकों में शहरी विद्यार्थियों पर अधिक ध्यान रखा जाता है, काफी सही है। पाठ्य-पुस्तकों में बल विज्ञान सीखने पर नहीं होना चाहिए। महत्त्व इस बात का है कि इस स्तर पर अध्यापकों को मार्ग दर्शक पुस्तकें उपलब्ध कराई जाएँ और उन्हें इस बात की छूट दी जाए कि वे स्वयं आवश्यकतानुसार शिक्षण-सामग्री बना सकें। फिर भी बच्चों के लिए अध्ययन सामग्री का सृजन बहुत सावधानी से होना चाहिए जिससे वे कुछ सीखने के लिए प्रेरणा प्राप्त करें।

4·8. कुछ राज्यों ने 11+ से 14+ आयु-वर्ग (छठी कक्षा से आठवीं कक्षा तक) के लिए भौतिकी, रसायन शास्त्र, जीव-विज्ञान जैसे विषय पहले से ही लागू कर दिए हैं। कुछ राज्य आठवीं कक्षा तक के लिए संश्लिष्ट पाठ्यक्रम विकसित कर सकते हैं। कुछ अन्य राज्य वर्ग-प्रणाली का प्रयोग भी कर सकते हैं, जैसे भौतिक-विज्ञान, जिसमें भौतिकी और रसायन शास्त्र हों, तथा जीव-विज्ञान, जिसमें वनस्पति-विज्ञान, प्राणी-विज्ञान और मानव शरीर-विज्ञान सम्मिलित हों। एकक-पद्धति बहुत शक्तिशाली है। इसे अपनाया जाना चाहिए। इस पद्धति में विषयों का अतिक्रमण नहीं होता वरन् उन्हें एक दूसरे के और निकट लाकर अधिक तर्क पूर्ण और सीधा मार्ग बनाया जाता है। यह पद्धति नवीं और दसवीं श्रेणियों के लिए भी उपयुक्त है। इन कक्षाओं में नियम और सिद्धान्तों का शिक्षण प्रारम्भ करना चाहिए, किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे रूढ़ि के रूप में प्रस्तुत न किए जायें। विद्यार्थियों को यह समझना चाहिए कि अनेक प्रारूप उपलब्ध हैं और वे जो पढ़ रहे हैं वह उनमें से एक है। अन्वेषण दृष्टि और संशय-वृत्ति को प्रोत्साहन देना चाहिए।

गणित

4·9. गणित से मानव के विचारों में वृद्धि हुई है। उससे उसने स्वयं को भली भाँति व्यक्त करना और खगोल सिद्धान्तों को दैनन्दिन जीवन में प्रयुक्त करना सीखा है। सूचनात्मक एवं गणनात्मक दृष्टियों से विज्ञानों और प्रायोगिक कलाओं में अपने

स्थान तथा अपने सांस्कृतिक महत्त्व के कारण गणित हमारे जीवन में अपरिहार्य बन गया है। ऐसे समाज में, जो औद्योगिक और तकनॉलॉजिकल समाज में तेज़ी से रूपान्तरित हो रहा है, गणित का ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य है। स्कूल स्तर पर गणित शिक्षा के उद्देश्य इस प्रकार होने चाहिएँ :

4·9·1. विद्यार्थियों को गणितीय विचार-पद्धति विकसित करने में सक्षम बनाना, अर्थात् संख्याओं और ज्यामिति आकारों से प्रयोग, सिद्धांत-निरूपण और निरीक्षण तथा प्रयोगों में उनका सत्यापन, उनका सामान्यीकरण, प्रमाणीकरण एवं निःसृति करने आदि की क्षमता उत्पन्न करना।

4·9·2. विद्यार्थियों को अपने आस-पास के संसार से प्राप्त अनुभवों की वृद्धि करने और जीवन की वास्तविक समस्याओं में गणित के प्रयोग की प्रक्रिया को समझने में सक्षम बनाना।

4·9·3. समरूपता उत्पन्न करने वाले स्वरूपों के माध्यम से विद्यार्थियों को गणित की मूल संरचनाओं को समझने में सक्षम बनाना और उन्हें प्रयोगों तथा ठोस स्थितियों के माध्यम से संरचनाओं को सीखने की अभिप्रेरणा देना।

4·9·4. विद्यार्थियों को गणित खुद सीखने के लिए प्रेरित करना और उनमें गणित के प्रति उचित भावना उत्पन्न करना।

4·10. स्कूली शिक्षा के प्रथम दस वर्षों में सब विद्यार्थियों को सामान्य शिक्षा दी जानी चाहिए। नवीं और दसवीं कक्षाओं में पाठ्यक्रमों के परिवर्तन की कोई योजना नहीं है। अतः दसवीं कक्षा तक सभी विद्यार्थियों के लिए गणित अनिवार्य होना चाहिए।

4·11. सामान्य शिक्षा का स्तर इतना ऊँचा अवश्य होना चाहिए कि आगे चल कर उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए आवश्यक आधार का निर्माण भी हो सके और विद्यार्थी में दैनन्दिन समस्याओं का सामना करने की योग्यता भी उत्पन्न हो सके। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के लिए उच्च स्तर की शैक्षिक इकाइयों को उपलब्ध कराने की सम्भावना समाप्त हो जाये।

4·12. प्राथमिक स्तर पर बच्चे को संख्याओं, उनके मूल-भूत प्रयोगों और उनके मुख्य गुणों का ज्ञान कराया जाना चाहिए। लम्बाई, चौड़ाई, समय, क्षेत्रफल, क्षमता आदि के स्वरूपों और इन्हें मापने के मापदण्डों का ज्ञान कराया जाना चाहिए। बच्चे को ज्यामितीय आकारों तथा बीजगणित के प्रारम्भिक संकेतों का प्राथमिक ज्ञान मिल जाना चाहिए। इस स्तर पर रोजमर्रा के जीवन में आने वाली समस्याओं में गणित के मूल-भूत सुगम प्रयोगों और अंकगणित की प्रक्रियाओं को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए।

4·13. माध्यमिक स्तर पर संख्या क्रम को वास्तविक संख्याओं तक बढ़ाया जाना चाहिए। उनके प्रयोगों में भी वृद्धि होनी चाहिए। विद्यार्थियों को बीजगणित की भाषा और रेखा समीकरणों से परिचित कराना चाहिए तथा एक या दो चल-राशियों की असमानताओं का परिचय भी कराना चाहिए। समुच्चयों और उनके चिन्हों के स्वरूप तथा सांख्यिकी के प्रारम्भिक स्वरूपों को स्पष्ट किया जाना चाहिए। रोज-मर्रा जीवन की समस्याओं में गणित के प्रयोग की प्रक्रियाओं का उपयोग और अधिक कराया जाना चाहिए तथा त्रिभुजों, चतुर्भुजों, वृत्तों के गुणों तथा सम-आकृतियों और घनों के क्षेत्रफल का ज्ञान प्रायोगिक विधियों से कराया जाना चाहिए।

4·14. नवीं और दसवीं कक्षाओं में वास्तविक जीवन की समस्याओं के समाधान विद्यार्थियों को स्वयं खोजने देना चाहिए। बीजगणित की प्रक्रियाओं का विस्तार करके उन्हें प्रविधि युक्त किया जाना चाहिए। प्रमाण के स्वरूप को स्पष्ट किया जाना चाहिए तथा त्रिभुजों, समानान्तर घनों और वृत्तों के प्रारम्भिक प्रमेयों को भी प्रारम्भ करना चाहिए। त्रिकोणमितीय अनुपातों तथा केन्द्रीय प्रवृत्तिशीलता और प्रसार के माप दण्डों के साथ वर्णनात्मक सांख्यिकी के उपयोगों का ज्ञान देना भी इस अवस्था में प्रारम्भ किया जाना चाहिए। गणित का इतिहास—विशेषतः भारत से सम्बद्ध—और गणितीय विचार पद्धति की प्रकृति सम्पूर्ण पाठ्यक्रम में परिव्याप्त रहनी चाहिए।

कार्यानुभव

4·15. बच्चे के व्यक्तित्व का संगत विकास करने के लिए उसके बौद्धिक विकास के निमित्त उसे विभिन्न अध्ययन ही नहीं अपितु ऐसे अवसर भी प्रदान करने चाहिएँ कि वह हाथ से काम कर सके और उसके प्रति वह सही दृष्टिकोण भी बना सके। इसके अतिरिक्त स्कूल की दुनिया और कर्म की दुनिया के मध्य वर्तमान खाई को पाटने की भी आवश्यकता है। यदि इसे जल्दी ही पाटा नहीं गया, तो आधुनिक तकनॉलॉजिकल विकास और भविष्य में समाज के अधिकाधिक तकनॉलॉजी पर निर्भर होने की सम्भावना के कारण यह खाई और भी बढ़ जायेगी। कर्म की प्रक्रिया और शिल्प परिवर्तित हो रहे हैं। छोटी आयु में कार्यानुभव के माध्यम से ही बच्चों को इससे परिचित कराया जा सकता है। इसलिए शिक्षा आयोग (1964-66) ने स्कूली शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर सामान्य शिक्षा में कार्यानुभव को अनिवार्य कर देने की जोरदार सिफारिश की थी। वस्तुतः कार्यानुभव की पद्धति समग्र पाठ्यक्रम का एक अंग होनी चाहिए।

4·16. कार्यानुभव के आधार पर ऐसे ज्ञान, कुशलताओं और अभिवृत्तियों का विकास होता है, जिसकी सहायता से बच्चा भविष्य में उत्पादन कार्यों में अपनी भूमिका निभा सकता है। कार्यानुभवों में उत्पादन, रख रखाव, तकनॉलॉजिकल विधियों के साथ-साथ मानव सम्बन्धों, संघटन एवं प्रबन्ध तथा विपणन आदि को सम्मिलित किया जाना चाहिए। कार्यक्षेत्र का चुनाव स्थानीय महत्त्व की दृष्टि से होना चाहिए।

ऐसा भी होना चाहिए कि उससे विद्यार्थियों की कार्यक्षमता बढ़े। यह मात्र काम करना सीखना ही नहीं है, वरन् कर्म शिक्षा भी है।

4·17. कार्यानुभव के कार्यक्रम से इन उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकती है : इनका मुख्य लक्ष्य कर्म के प्रति उचित दृष्टिकोण का विकास, श्रम के प्रति आदरभाव की जागृति, स्तर और वर्ग भेद की समाप्ति, तथा उत्पादन-सिद्धान्त पर बल होना चाहिए। जहाँ सम्भव हो कार्यानुभवों से श्रम बचाने वाली विधियों, घरेलू मशीनों, औजारों के उपयोग और आवश्यकता आदि आधुनिक जीवन के अंगों को समझने में सहायता मिलनी चाहिए। उनके प्रयोग की विधियों और उनके वैज्ञानिक सिद्धान्तों का ज्ञान भी मिलना चाहिए। कार्यानुभवों की विभिन्न गतिविधियाँ अनिवार्य रूप से समुदाय की आवश्यकताओं औरउपयोगों से जुड़ी हुई होनी चाहिएँ। कार्यानुभव के भली भाँति निर्देशित कार्यक्रम में उन लाभदायक व्यवसायों के प्रति विद्यार्थी के रुझान का पता भी चलेगा, जिसके लिए विशेष प्रवीणता शारीरिक क्षमता, सहयोगियों के प्रति सद्भाव और दिये गए कार्य की पूर्ति और कर्त्तव्य पालन की सजगता की आवश्यकता होती है।

4·18. प्राथमिक स्तर पर उपलब्ध स्थानीय सामग्री और सरल औजारों से होने वाले छोटे-छोटे सर्जनात्मक और आत्माभिव्यक्ति वाले कार्य कराए जाने चाहिएँ। एकरसता उत्पन्न करने वाले कार्य नहीं कराए जाने चाहिएँ। उच्चतर प्राथमिक (अथवा माध्यमिक) और उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में औजारों का प्रयोग वैज्ञानिक तरीके से होना चाहिए।

4·19. कार्यानुभव क्षेत्रों का चुनाव समुदाय का सर्वेक्षण करके करना चाहिए। जहाँ आवश्यक हो कार्यक्रम के निर्धारण में कर्मकारों और मेकैनिकों के विशिष्ट ज्ञान की सहायता ली जानी चाहिए। तकनॉलॉजी पर आधारित कार्यानुभवों में वांछित प्रवीणता और योग्यता प्राप्त कराने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

4·20. विद्यार्थियों को अनेक कार्य क्षेत्रों का कुछ अनुभव प्रदान करने के लिए एक उपसत्र में एक कार्य क्षेत्र और दूसरे में दूसरा कार्य क्षेत्र और इसी भाँति अन्य उपसत्रों में अन्य कार्य क्षेत्र उपलब्ध कराए जाने चाहिए।

4·21. एक ही कार्य क्षेत्र को विभिन्न स्तरों पर उपलब्ध कराके विद्यार्थियों को क्षेत्र विशेष में प्रवीणता प्राप्त करने का अवसर दिया जाना चाहिए। इस प्रकार प्राप्त विशेषता आठवीं या दसवीं के पश्चात् उसे उन कार्य को नियमित व्यवसाय के रूप में करने का अवसर प्राप्त कराने में सहायक होगी। नवीं और दसवीं कक्षा के विद्यार्थियों को खेत, कारखाने या आसपास के किसी उद्योग में कुछ काम करने का अनुभव देना भी वांछित होगा।

4·22. पाठ्यक्रम में वास्तविक कार्य-क्षेत्र को तो समुदाय की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर सम्मिलित किया जाना चाहिए किन्तु यह कार्य-क्षेत्र जहाँ तक हो सके ऐसे होने चाहिएँ कि उनमें विभिन्न प्रक्रियाओं, विधियों और काम के औजारों को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

4·23. कार्यानुभव का लक्ष्य पाठ्यक्रम में अप्राप्य अनुभव प्रदान करना होना चाहिए। विद्यालय के विषयों के अध्ययन-अध्यापन पर इसका प्रभाव पड़ेगा और संश्लिष्ट ज्ञान का आधार निर्मित करने में भी इससे सहायता प्राप्त होगी। यदि कार्यानुभव को सही ढंग से नियोजित किया जाए तो माध्यमिक स्तर से विद्यार्थियों के लिए यह आय का माध्यम भी बन सकता है। जहाँ सम्भव हो इस सम्भावना का ध्यान भी रखा जाना चाहिए।

सामाजिक विज्ञान

4·24. सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन का सर्वप्रथम लक्ष्य बच्चे को अपने भौगोलिक और सामाजिक परिवेश के अतीत और वर्तमान का ज्ञान कराना है। सामाजिक विज्ञानों के शिक्षण के प्रभावकारी कार्यक्रम द्वारा बच्चों में सामाजिक-आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थाओं के माध्यम से होने वाली जन-जीवन की गतिविधियों में गहरी रुचि उत्पन्न होनी चाहिए। उसे बच्चे में मानव-सम्बन्धों, सामाजिक मूल्यों और दृष्टिकोणों के प्रति अन्तर्दृष्टि के विकास में सहायक होना चाहिए। ये कल के उभरते नागरिकों की समाज, राज्य, राष्ट्र और व्यापक रूप से विश्व के क्रिया-कलापों में प्रभावशाली भूमिका के लिए अनिवार्य हैं।

4·25. सामाजिक विज्ञानों के शिक्षण को बच्चों को भारत की सांस्कृतिक सम्पदा की पहचान कराने तथा अवांछित और रूढ़ियों से मुक्ति दिलाने में—विशेषत: सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में—समर्थ होना चाहिए। यह स्कूलों का उत्तरदायित्व है कि वे हमारे विद्यार्थियों में संकीर्ण प्रान्तीयता-राष्ट्रीयता और उन्नति-रोधक प्रवृत्तियाँ न पनपने दें। स्कूलों को प्रयत्न करना चाहिए कि प्रत्येक विद्यार्थी में सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के महत्त्वपूर्ण कार्य में प्रतिबद्धता के साथ भाग लेने की भावना का विकास हो। विश्व की जातियों में सहनशीलता और क्षमता तथा शान्ति और आन्तरिक संगति की भावना उत्पन्न करने के अपने राष्ट्रीय लक्ष्य के प्रति भी बच्चों में आस्था उत्पन्न होनी चाहिए। अत: सामाजिक विज्ञानों के शिक्षण का उद्देश्य मानववाद, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद और जनतन्त्र के मूल्यों और आदर्शों का प्रसार होना चाहिए। इससे न्यायपूर्ण विश्व-व्यवस्था, आर्थिक और सामाजिक मंगल की वृद्धि, हिंसा के शमन और भौगोलिक निर्भरता की वृद्धि के प्रमुख मूल्यों को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य ज्ञान तथा दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए।

4·26. प्रथम से दसवीं कक्षा तक सामाजिक विज्ञानों के पाठ्यक्रम में इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र और अर्थशास्त्र के विषय होने चाहिएँ। प्रत्येक विषय के लिए कम समय उपलब्ध होने के कारण इनका शिक्षण ऐसे संश्लिष्ट रूप में करने की आवश्यकता होगी कि विद्यार्थी अलग-अलग विषयों की सम्पूर्णता को नष्ट किए बिना ही तथ्यों और समस्याओं के प्रति ठीक-ठीक समझ का विकास कर सकें। इसके लिए इन सब विषयों की अनिवार्य इकाइयों को चुन कर उन्हें सामाजिक विज्ञानों के पाठ्यक्रम के रूप में एकत्र करना चाहिए।

4·27. विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या के लिए पाँचवीं, आठवीं और दसवीं कक्षाओं के अन्तिम कक्षाएँ होने के कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रत्येक स्तर के लिए ऐसा पाठ्यक्रम तैयार किया जाए जो स्वयं में परिपूर्ण भी हो और साथ ही आगामी स्तर के लिए उपयुक्त धरातल का निर्माण भी कर सके। जहाँ तक सम्भव हो, इस सिद्धान्त का परिपालन करते हुए पुनरावृत्ति और समय तथा शक्ति को व्यर्थ होने देने से बचना चाहिए।

4·28. **प्राथमिक स्तर**—सामाजिक विज्ञानों को प्रथम और द्वितीय कक्षाओं में परिवेश के अध्ययन के रूप में और बाद की कक्षाओं में सामाजिक अध्ययन के स्वतन्त्र विषय के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। प्रथम और द्वितीय कक्षाओं में परिवेश के अध्ययन के अन्तर्गत प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश दोनों होने चाहिए। प्राथमिक कक्षाओं में सामाजिक विज्ञानों के स्थान पर 'सामाजिक अध्ययन' नाम का प्रयोग अधिक उचित होगा क्योंकि यह एक व्यापक और सम्मिश्रित शिक्षा-क्षेत्र का बोध कराता है। इसकी सामग्री इतिहास, भूगोल, नागरिक-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र आदि अनेक सामाजिक विज्ञानों से ग्रहण की जाती है ताकि बच्चों के समग्र परिवेश—विशेषतः भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं—को क्रमशः उद्-घाटित किया जा सके। प्राथमिक स्तर पर इन विषयों के तथ्यों का ज्ञान देते समय स्कूलों का ध्यान इस बात पर रहना चाहिए कि बच्चे में आवश्यक सामाजिक प्रवीणता, मूल्यों और दृष्टिकोणों का विकास हो ताकि बच्चा जैसे-जैसे बड़ा हो, वैसे-वैसे अपनी शक्ति का उपयोग कर अपने समाज के विकास में सहयोग दे सके।

4·29. प्राथमिक विद्यालय के पाँच वर्षों में बच्चे का मानसिक क्षितिज क्रमशः परिवार, स्कूल और स्थानीय समाज से विश्व तक उठाया जाना चाहिए। इस प्रक्रिया में बच्चा अपने परिवेश की भौगोलिक विशेषताओं को समझना प्रारम्भ करेगा। विभिन्न मानवीय क्रियाकलापों का भी अध्ययन होना चाहिए क्योंकि वे उसे यह समझने में सहायता करते हैं कि मानव की अनेक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए प्रकृति के उपहारों को किस प्रकार वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त किया जाता है। उसे देश के विभिन्न भागों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन और विश्व के कुछ भागों की विभिन्न जीवन-पद्धतियों से भी परिचित कराया जाना चाहिए। राष्ट्रीय और मानवीय विरासत में अपना योग देने वाले व्यक्तियों की कथाओं और घटनाओं का वर्णन भी करना चाहिए। इनके अतिरिक्त बच्चों को राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं की कार्यपद्धतियों से मोटे तौर से परिचित होने के साथ-साथ वांछित सामाजिक आदतों, दृष्टिकोणों और मूल्यों को विकसित करने का अवसर भी प्राप्त होगा।

4·30. **मिडिल और निम्न-माध्यमिक स्तर**—स्कूली शिक्षा के आगामी दो स्तरों के लिए सामाजिक विज्ञानों में इतिहास, भूगोल, नागरिक-शास्त्र और अर्थशास्त्र की सामग्री का संकलन तीन विभिन्न दृष्टियों से किया जा सकता है:

4·30·1. इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र को मिडिल कक्षाओं में पृथक् विषयों के रूप में संकलित कर निम्न माध्यमिक (हाई स्कूल) कक्षाओं तक पढ़ाया जा सकता है। अर्थशास्त्र को निम्न माध्यमिक स्तर पर पृथक् विषय के रूप में सम्मिलित किया जा सकता है।

4·30·2. इतिहास और भूगोल को एक वर्ग में और नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र को दूसरे वर्ग में रखा जा सकता है। इन दोनों वर्गों को छठी कक्षा में प्रारम्भ कर दसवीं कक्षा तक पढ़ाया जा सकता है।

4·30·3. इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र को विषय-वस्तु को एक संश्लिष्ट विषय के रूप में रख कर पाँचों वर्षों तक एकसाथ पढ़ाया जा सकता है।

प्रथम दोनों दृष्टिकोण आजकल सामान्यतः प्रचलित है। किन्तु ये दोनों विषयों को परस्पर असम्बद्ध भी बताते हैं और उन्हें समस्याओं तथा स्थितियों से भी अलगाते हैं। तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार इन विषयों की अनिवार्य इकाइयों को दो वृत्तों में—एक त्रि-वर्षीय और दूसरा द्वि-वर्षीय, एकजुट करना होगा। इस प्रकार त्रि-वर्षीय वृत्त के लिए संकलित इकाइयों को परस्पर तथा विषय-क्रमबद्धता से एकत्र करना होगा ताकि वे सामाजिक विज्ञानों के सामान्य पाठ्यक्रम के रूप में प्रस्तुत की जा सकें। बाद के दो वर्षों के लिए पहले चक्र को आधार बनाते हुए यही प्रक्रिया दोहराई जा सकती है। पहले चक्र की कुछ इकाइयों को अधिक गहराई से ग्रहण किया जा सकता है और प्रत्येक विषय से कुछ नई इकाइयाँ जोड़ी जा सकती हैं ताकि इन विषयों का कुछ उच्चतर पाठ्यक्रम तैयार हो सके। प्रत्येक विषय से इकाइयों का चयन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विषय की सामान्य संरचना पर आघात भी न हो और ऐसे तथ्य और सिद्धान्त भी सम्मिलित हो जाएँ जो वर्द्धमान तरुणों के लिए लाभप्रद होने के साथ-साथ कालान्तर में विषय के विधिगत अध्ययन का आधार बन सकें। मिडिल और निम्न माध्यमिक स्तरों पर विभिन्न विषय-क्षेत्रों की सीमा का निर्धारण इस प्रकार किया गया है :

4·31. मिडिल स्तर पर इतिहास के माध्यम से विद्यार्थियों को प्राक्ऐतिहासिक काल से वर्तमान काल तक भारतीय समाज का परिचय मिलना चाहिए। यह आवश्यक है कि राजवंशों के इतिहास और राजनैतिक वर्णनों की अपेक्षा देश के विभिन्न भागों की सामाजिक और आर्थिक स्थितियों तथा संस्कृति के विभिन्न पक्षों के विकास के अध्ययन पर बल दिया जाए। साथ ही संपूर्ण मानवता के इतिहास का भी समुचित अध्ययन उपलब्ध होना चाहिए।

4·32. पाठ्यक्रम का संघटन और विषय-वस्तु का चयन 'खण्ड' दृष्टि से होना चाहिए। सामान्य शिक्षा की आवश्यकताओं को देखते हुए यह आवश्यक नहीं है कि भारतीय इतिहास की प्रत्येक दशाब्दी अथवा शताब्दी का परिचय देने के लिए उसका अविरल वर्णन किया जाए। इसके विपरीत क्रमानुसार मुख्य पक्षों के अध्ययन

सहित प्रतिनिधि-कालों अथवा खण्डों' को रखा जा सकता है। इसके साथ 'प्रसग-विषयक' दृष्टि भी अपनाई जा सकती है जिससे 'खण्ड'-विशेष के कुछ पक्षों का चुनाव करके, अन्य पक्षों की अपेक्षा उनका गहरा अनुशीलन किया जा सके।

4·33. भारतीय इतिहास के पाठ्यक्रम का कक्षानुसार विभाजन इस प्रकार हो सकता है : कक्षा VI—प्राचीन भारत; कक्षा VII—मध्यकालीन भारत; कक्षा VIII—आधुनिक भारत। भारत के इतिहास के इन मुख्य कालों के साथ-साथ तत्कालीन मानव के इतिहास का अध्ययन भी होना चाहिए।

4·34. नागरिकशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य मात्र ज्ञान उपलब्ध कराने की अपेक्षा नागरिक जीवन का प्रशिक्षण देना होना चाहिए। नागरिकशास्त्र के कार्यक्रम में ऐसा समाज-सापेक्ष ज्ञान होना चाहिए जो न केवल नागरिक प्रक्रियाओं की जानकारी देने वाला हो बल्कि नागरिक क्षमताओं और योग्यताओं का विकास करने वाला भी हो।

4·35. इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत छठी और सातवीं कक्षा में क्रमशः स्थानीय सरकार और भारतीय संविधान का अध्ययन अपेक्षित है, अन्तिम वर्ष में, अर्थात् आठवीं कक्षा में भारत की वर्तमान समस्याओं का अध्ययन होना चाहिए। व्यावहारिक और सर्वांग-दृष्टिकोण बनाए रखने के लिए पाठ्यक्रम में नागरिक-शिक्षा के कुछ व्यावहारिक पक्ष और अर्थशास्त्र के कुछ तत्त्व भी सम्मिलित किए जाने चाहिएँ।

4·36. यद्यपि इस योजना में सम्मिलित अनेक गतिविधियों और प्रकरणों को अध्यापक स्कूल अथवा कक्षा में ही आयोजित कर सकते हैं, तथापि यह सम्मति दी जाती है कि यदि विद्यार्थियों को बाहर ले जाकर जीवन की वास्तविक स्थितियों से संलग्न किया जाए तो प्रशिक्षण अधिक लाभप्रद होगा।

4·37. मिडिल स्कूल के स्तर पर भूगोल के दो विशिष्ट उद्देश्य हैं : (i) पाठ्यक्रम के एक विषय के रूप में भूगोल का विद्यार्थियों से परिचय ताकि उसमें उनकी रुचि उत्पन्न हो, और (ii) नागरिक-शिक्षा के लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक मूल्यों, दृष्टिकोणों और सामान्य समझ की वृद्धि। इन दो पक्षों को यद्यपि अलग-अलग संकेतित किया गया है, किन्तु व्यवहार में ये दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं हैं।

4·38. मिडिल स्कूल स्तर पर यस पाठ्यक्रम अवश्यम्भावी रूप से वर्णनात्मक तथा मूल योजना के अन्तर्गत विश्व के संदर्भ में भारत विषयक ज्ञान उपलब्ध कराने में केन्द्रित होना चाहिए। इसी ज्ञान को हमें अलग-अलग ढंग से रहने वाली जातियों के साथ बाँटना है। विद्यार्थियों में इस बात की समझ उत्पन्न होनी चाहिए कि और लोगों के साथ मिल कर रहने से ही दुनिया के लोग वसुन्धरा के वरदान का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

4·39. विकासशील समाज में, जिसमें सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन तेजी से होते हैं, सफल जीवन जीने की योग्यता उत्पन्न करने में मिडिल स्तर पर ही नागरिकों के दैनिक जीवन को प्रभावित करने वाली आर्थिक शक्तियों का प्रारम्भिक ज्ञान

लाभप्रद होगा। इस दृष्टिकोण से उपभोक्ता अर्थशास्त्र, जैसे आय और व्यय, प्रबन्ध, मूल्य-वृद्धि और बढ़ती हुई जनसंख्या के प्रभाव आदि का सरल रूप में प्रारम्भिक ज्ञान कराना आवश्यक लगता है।

4·40. नवीं और दसवीं कक्षाओं में प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान काल तक के मानव के इतिहास का क्रमिक अध्ययन प्रारम्भ कराया जाना चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसका क्रम से अविरल वर्णन किया जाए। इसके लिए उन खण्डों का चयन किया जाना चाहिए जिनमें अनेकता के साथ-साथ एकता और विशिष्टता भी हो। इन 'खण्डों' के चुनाव का मूल आधार विश्व के अनेक भागों में काल क्रम से मिलने वाले विकसित सामाजिक रूप हो सकते हैं। इस पाठ्यक्रम का केन्द्र बिंदु समाज-प्रणालियों का उत्थान और विकास तथा नयी प्रणालियों द्वारा उनका स्थान ग्रहण करने एवं वैज्ञानिक और सांस्कृतिक विकास का अध्ययन होना चाहिए। पूर्व-औपनिवेशिक अफ्रीकी और अमेरिकी महाद्वीपों सहित विश्व के प्रमुख भागों के ऐतिहासिक विकास को इसमें सम्मिलित किया जाना चाहिए। देश-विशेष के इतिहास के आधार पर सामग्रीचयन तभी होना चाहिए जब कि उस देश के इतिहास का मानव के पूर्ण इतिहास पर विशिष्ट प्रभाव पड़ा हो और वह उन नयी दिशाओं का प्रतिनिधित्व करता हो जो सम्पूर्ण मानवता के इतिहास से सम्बद्ध हों।

4·41. इसके साथ-साथ भारत के इतिहास के कुछ पक्षों का गहन अध्ययन भी होना चाहिए। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास एवं तत्कालीन भारत को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण कारकों का अध्ययन विशेष रूप से होना चाहिए।

4·42. नवीं और दसवीं कक्षा में नागरिकशास्त्र-शिक्षण के दो मुख्य लक्ष्य : (i) क्रियात्मक और समझ से परिपूर्ण नागरिकता की प्रेरणा, और (ii) सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं की संरचना और उनके कार्यकलापों की जानकारी प्रदान करना है। इसके साथ-साथ विश्व-शान्ति और सहयोग को बढ़ाने में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका का महत्त्व भी बताना चाहिए।

4·43. इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत नवीं कक्षा के पाठ्यक्रम में नागरिकशास्त्र का अर्थ और क्षेत्र, समुदाय-जीवन, सरकार के रूप, अधिकार और कर्त्तव्य तथा कार्यशील जनतन्त्र आदि को सम्मिलित करना चाहिए। दसवीं कक्षा में विद्यार्थियों को भारत की सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं की संरचना और कार्यों तथा विश्व शान्ति बनाए रखने में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका का अध्ययन कराना चाहिए। समाजशास्त्र के कतिपय मूल-भूत तत्त्वों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए।

4·44. सामान्य शिक्षा के अन्तिम स्तर पर भूगोल को मात्र वर्णनात्मक विषय न रह कर कुछ विश्लेषणात्मक और प्रत्ययात्मक होना चाहिए। इस रूप में इसे सामान्य शिक्षा के दर्शन और आत्मा के निकट होना चाहिए। विश्व भूगोल और भारत के आर्थिक भूगोल के समस्त पक्षों के संक्षिप्त विश्लेषणात्मक अध्ययन के साथ-साथ चुनिंदा पक्षों का विस्तृत अध्ययन भी होना चाहिए।

4·45. निम्न-माध्यमिक स्तर पर अर्थशास्त्र के शिक्षण का लक्ष्य अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर बल देना उतना नहीं होना चाहिए जितना कि आम आदमी के दैनिक जीवन पर प्रभाव डालने वाली वर्तमान समस्याओं और विषयों पर। यह बल देते हुए ही अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जाना चाहिए। यह आशा की जाती है कि यह परिचयात्मक पाठ्यक्रम ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाओं में अधिक विधिगत और गहन अध्ययन की आधार भूमि बन सकेगा।

4·46. इस पाठ्यक्रम से ब्रिटिश-शासन की प्रारम्भिक अवस्था में भारत की आर्थिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय भी मिलना चाहिए। इससे राष्ट्रीय योजनाओं के माध्यम से भारत के आर्थिक विकास की आवश्यकता और योजनाओं के लक्ष्यों की समझ उत्पन्न करने के लिए वांछित धरातल का निर्माण हो सकेगा। आर्थिक संस्थाओं के परिचय के अंग रूप में मुद्रा और आर्थिक संस्थाओं की भूमिका का परिचय भी बच्चे को दिया जाना चाहिए। निर्धनता, मूल्य-वृद्धि, कृषि-स्थिरता आदि वर्तमान आर्थिक समस्याओं पर विचार-विमर्श होना चाहिए। संभाव्य स्रोतों और अब तक किये गये कार्यों के आधार पर भविष्य में देश की आर्थिक सम्भावनाओं पर भी इस पाठ्यक्रम से कुछ प्रकाश पड़ना चाहिए।

4·47. मिडिल और नवीं-दसवीं कक्षाओं के स्तर पर तरुणों को अपने शारीरिक और मानसिक विकास, सामाजिक सम्बन्धों, व्यक्तित्व और जीवन तथा कर्म से सामंजस्य की समस्याओं के प्रति अन्तर्दृष्टि के विकास में सहायता देने के उद्देश्य से मनोविज्ञान पर आधारित पाठ्यक्रम-इकाइयों का विकास किया जाना चाहिए।

भाषाएँ

4·48. त्रि-भाषा फार्मूला राष्ट्रीय नीति के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। स्कूल में दस वर्ष व्यतीत करने के पश्चात् बच्चे को प्रथम भाषा में प्रवीण, दूसरी भाषा समझने और उसमें स्वयं को अभिव्यक्त करने में समर्थ, तथा तृतीय भाषा के सामान्य छपे हुए रूप को समझने योग्य हो जाना चाहिए। प्रथम भाषा सामान्यतः मातृभाषा होनी चाहिए। जहाँ मातृभाषा हिन्दी नहीं है, वहाँ पर द्वितीय भाषा होनी चाहिए। तृतीय भाषा सामान्यतः अंग्रेजी होनी चाहिए, किन्तु उसके स्थान पर कोई अन्य विदेशी भाषा भी हो सकती है। संस्कृत या फारसी प्रथम या द्वितीय भाषा के अंग के रूप में अथवा अलग से चौथे विषय के रूप में सम्मिलित की जा सकती है।

4·49. प्राथमिक स्तर के अन्त तक विद्यार्थी को मातृभाषा के मानक रूप के माध्यम से सामान्य रूप में अपेक्षित गठन और शब्दावली का प्रयोग करके मौखिक और लिखित रूप में आत्माभिव्यक्ति में समर्थ हो जाना चाहिए। विद्यार्थी को शुद्ध उच्चारण, ध्वनि के उतार-चढ़ाव, मुद्रा, आवश्यक गति और अर्थ-ग्रहण के साथ बोल-बोल कर पढ़ना आना चाहिए। विद्यार्थी को अर्थ-ग्रहण करते हुए मौन-पठन का सही तरीका भी आना चाहिए। उसमें अपने स्तर के अनुरूप सरल वर्णनों को सुनकर

अर्थ-ग्रहण की क्षमता भी होनी चाहिए। मिडिल और माध्यमिक स्तरों पर गहनतर भाषा वैज्ञानिक और विचारणात्मक विषय-वस्तु के माध्यम से उपरोक्त सभी विशेषताओं में वृहत्तर प्रवीणता अपेक्षित है।

4·50. द्वितीय और तृतीय भाषा के शिक्षण के लक्ष्य भी वही हैं। सिवाय इस तथ्य के कि उनके शिक्षण की योजना इस तथ्य को ध्यान में रख कर बनाई गई है कि विद्यार्थी इन भाषाओं का थोड़ा ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और वह पढ़ कर ही इन पर अपने अधिकार में वृद्धि कर सकता है। अतः यदि विद्यार्थी सीमित शब्द-भण्डार और स्तरीकृत गठनों का सन्तोषप्रद प्रयोग सीख लेता है, तो अध्यापक को सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। उपरोक्त प्रवीणताओं को प्राप्त करने के उद्देश्य के अतिरिक्त भाषा पाठ्यक्रमों का निर्माण उचित दृष्टिकोणों और रुचियों, करुणा, ईमानदारी, सहनशीलता, सच्चाई जैसे मानव-मूल्यों, राष्ट्रीय चेतना, परख और खोज की प्रवृत्ति आदि के विकास को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए।

4·51. द्वितीय भाषा प्राथमिक स्तर अथवा मिडिल स्तर पर प्रारम्भ की जा सकती है। तृतीय भाषा छठी कक्षा से प्रारम्भ की जा सकती है। परन्तु तीनों भाषाएँ दसवीं कक्षा के अन्त तक पढ़ाई जानी चाहिएं। भाषा-पुस्तकों की सामग्री का चयन वांछित दृष्टिकोणों और मूल्यों तथा सम्बद्ध लोगों के जीवन और संस्कृति की सामान्य पहचान का विकास कराने की दृष्टि से होना चाहिए। भाषा-शिक्षण की मौखिक, श्रौतिकपद्धति का उपयोग किया जाना चाहिए।

4·52. स्कूल स्तर पर किसी भाषा को विकल्प और अ-परीक्षणीय विषय का स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। इसके विपरीत मिडिल और माध्यमिक स्तरों पर अतिरिक्त विषयों के रूप में अन्य भारतीय और विदेशी भाषाओं के अध्ययन की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए। यह हमेशा याद रखना चाहिए कि विषयों का अध्ययन भाषा-अध्ययन में सहायक होता है। अतः भाषा-अध्ययन के भार को उचित सीमाओं में रखने, और भाषा-शिक्षण-सामग्री के रूप में अन्य विषयों (पाठ्यक्रमांतर्गत अथवा पाठ्येतर) से पर्याप्त सामग्री को सम्मिलित करने की संभावना भी बनी रहनी चाहिए।

कला, संगीत एवं अन्य सौन्दर्यात्मक गतिविधियाँ

4·53. कला-शिक्षा का प्रारम्भ सर्जनात्मक और सौन्दर्यात्मक गतिविधियों से होता है। इसमें विवेक और सौन्दर्यानुभूति का विकास, सुन्दर, संगतिपूर्ण, सरल, स्वस्थ और शुद्ध के चुनाव और ग्रहण की क्षमता भी जोड़ दी जानी चाहिए। जैसे-जैसे बच्चे की क्षमता और समझ का विकास होता जाए, वैसे-वैसे उसकी शिक्षा में सौन्दर्य-अभिरुचि तथा शक्ति और प्रवीणता की परिष्कृति का योग होते जाना चाहिए। उसे सुन्दर, उन्नत, स्वस्थ और श्लाघ्य वस्तुएँ दिखा कर, उन्हें समझने और उनसे प्रेम करना सिखाना चाहिए—चाहे वे वस्तुएँ प्रकृति में हों अथवा मानवीय कृतियों के रूप में। इन्द्रियों का योजनाबद्ध और प्रबुद्ध संस्कृतिकरण धीरे-धीरे बच्चे से

अमार्जित, साधारण और अपरिष्कृत को दूर कर सकता है क्योंकि जो एक बार वास्तविक परिष्कृत अभिरुचि का विकास कर लेता है, वह उस परिष्कार-भाव के कारण अपरिष्कृत, उद्दण्ड अथवा अमार्जित व्यवहार करने में स्वयं को अक्षम पाता है। इस परिष्कार से उसके चरित्र में भद्रता और उदारता उत्पन्न होगी और उसके व्यवहार में तुरन्त इनकी झलक भी मिलेगी।

4·54. नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि विभिन्न कलाओं के शिक्षण को भी विद्यार्थियों को अपनी क्षमताओं का पूर्ण विकास करने का अवसर देने तथा इस प्रक्रिया में उनकी सहायता करने और प्रेरणा देने के मूलभूत सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए।

4·55. स्कूलों के पाठ्यक्रम में कला-शिक्षा उपेक्षित रही है। जो थोड़ी-बहुत कला-शिक्षा दी भी जाती है, उसका बल कला सीखने पर होता है, जबकि उसका लक्ष्य केवल कला-शिल्प सीखने की अपेक्षा ऐसा सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करना होना चाहिए जो प्रत्येक क्रियाकलाप में निहित हो।

4·56. शिक्षण-प्रणाली में कलाओं के प्रति पूर्वाग्रह हैं। कलाओं को निखट्टू या मन्द-बुद्धि-विद्यार्थियों के उपयुक्त ही समझा जाता है। इस दृष्टिकोण में परिवर्तन अपेक्ष्य है। आत्माभिव्यक्ति और सृजन के माध्यमों को प्रत्येक विद्यार्थी को सिखाया जाना चाहिए, न कि गाने या चित्र-कला में प्रवीण चन्द विद्यार्थियों को ही।

4·57. पाठ्य-विषय के रूप में कला के उद्देश्य को पुनर्परिभाषित करने की आवश्यकता है। ड्राइंग पढ़ाने के प्राचीन रूप को त्यागना होगा। बच्चों को समस्त सृजन का केन्द्र समझना चाहिए और कलात्मक अभिव्यक्ति (जो उसकी प्रवृत्तियों के अनुकूल है) को प्रोत्साहन देना चाहिए।

4·58. कला-शिक्षण की उदार विधियों के आधार पर काम करते हुए सीखने के सिद्धान्त का अर्थ बच्चे के लिए आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से स्वयं खोज करना भी है। अतः कला दर्शन, संवेदन, अनुभव और अन्ततः 'करने' का प्रशिक्षण है।

4·59. निम्न प्राथमिक स्तर पर कला-शिक्षण को अग-अलग विषयों में खण्डित नहीं करना चाहिए। कला प्रशिक्षण को संश्लिष्ट और पूर्ण-अनुभव होना चाहिए। इसमें चित्रकला, संगीत, नृत्य और नाटक सम्मिलित किए जाने चाहिएँ। यह प्रशिक्षण बच्चे के अन्तः और वाह्य परिवेश के साथ उसके सम्बन्ध की सापेक्षता में होना चाहिए। शिक्षण-दृष्टि को बच्चे की अपनी पसन्द और पसन्द की समझ का अधिकाधिक विकास करने वाली विपुल सामग्री देने वाली होना चाहिए।

4·60. किन्तु मिडिल स्तर पर कला-शिक्षक को विद्यार्थी को सीधा निर्देश देने से बचना चाहिए और उसे आत्माभिव्यक्ति के सही मार्ग ढूँढ़ने के लिए अपने स्रोतों की खोज के लिए प्रेरित करना चाहिए। तकनीक का निर्देश परोक्ष और आगमनात्मक होना चाहिए। बच्चे को अपनी ही रुचि के दायरे में कला-रचनाओं को समझने और मूल्यांकित करने देना चाहिए। उसकी आत्माभिव्यक्ति में खोज और उपयोग के लिए अधिकाधिक साधनों को उपलब्ध करना चाहिए। बच्चे के निजी शिल्प का

आदर करना चाहिए और उसे प्रोत्साहन देना चाहिए। जो विषय उसे दिए जाएँ वे उसके अनुभव से सम्बद्ध होने चाहिएँ।

4·61. माध्यमिक स्तर बचपन की संर्जनात्मक अभिव्यक्ति और बाद के कार्यक्षेत्र से सम्बन्धित प्रशिक्षण के बीच की कड़ी है। यहाँ भी पहले की भाँति तकनीक का निर्देश परोक्ष होना चाहिए। तरुणों को यथासम्भव पर्यवेक्षण और खोज करके तकनीक अपनाने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा

4·62. भारत सरकार द्वारा 1956 में प्रथम बार बनायी गयी शारीरिक शिक्षा की राष्ट्रीय योजना में कहा गया है कि "शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य बच्चे को शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक रूप से सक्षम बनाना और उसके व्यक्तिगत और सामाजिक गुणों का विकास करना होना चाहिए, जो दूसरों के साथ उसके प्रसन्नतापूर्वक रहने में सहायक होंगे और उसे अच्छा नागरिक बनाएँगे।" उसमें आगे इस बात पर बल दिया गया है कि शारीरिक शिक्षा का परिणाम—संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास और कर्त्तव्य-पालन के लिए प्रेरक, अच्छी नागरिकता के लक्ष्य की प्राप्ति—होना चाहिए।

4·63. शारीरिक शिक्षा के सर्वांग और विधि पूर्ण कार्यक्रम से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होने की आशा की जा सकती है।

(i) हृष्ट-पुष्ट शरीर। यह एक विस्तृत विषय है जिस पर पहले ही पर्याप्त सामग्री एकत्र की जा चुकी है। इसमें खाने, सोने, स्वास्थ्य की अच्छी आदतों का विकास एवं शरीर की विभिन्न क्रियाओं को नियंत्रित करने के लिए व्यायाम का प्रयोग सम्मिलित है।

(ii) बल और ताज़गी। केवल आवयविक शक्ति और शारीरिक सहन-शक्ति का विकास ही नहीं किया जाना चाहिए बल्कि अभ्यास, प्रवीणता और क्षमता का भी विकास होना चाहिए। ये खेलकूद से विकसित होती हैं और अनेक कार्य क्षेत्रों के लिए बहुत अच्छी तैयारी हैं।

(iii) इन्द्रियों का प्रशिक्षण। आंख और कान की बोध-क्षमता तथा शरीर-अवयवों द्वारा आवश्यकतानुसार आज्ञापालन की क्षमता का विकास, प्रतिवर्ती क्रियाओं का सामंजस्य और उन पर अधिकार (जैसे जिमनास्टिक और समानुपातन में)—इसका लक्ष्य होना चाहिए।

(iv) केवल शक्ति ही नहीं वरन् भव्यता, सुन्दरता और अन्तरसंगति प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए। सुन्दरता भौतिक संसार का बाह्य पक्ष नहीं बल्कि उसकी आत्मा है।

(v) आत्माधिकार और अनुशासन, साहस और आत्मविश्वास का विकास करना चाहिए। दौड़, खेलों और योग के अभ्यास से अपने मनोवेगों,

प्रतिक्रियाओं और कमजोरियों पर अधिकार प्राप्त करना बहुत बड़ा लाभ है।

(vi) दूसरों के साथ सहकारिता, समभाव और उचित व्यवहार। ये समूह-खेलों के माध्यम से विशेष रूप से विकसित किये जा सकते हैं।

4·64. शारीरिक शिक्षा, स्काउटिंग, गाइडिंग, एन० सी० सी० आदि के भली भाँति आयोजित कार्यक्रम, सहनशीलता, साहस, निर्णय क्षमता, उद्योगशीलता, दूसरे के प्रति आदर भाव, सच्चाई, निष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता और सर्वमंगल आदि मूल गुणों के विकास में सहायक हो सकते हैं। इनमें से कुछ गतिविधियाँ शारीरिक शिक्षा के अनिवार्य कार्यक्रम के साथ-साथ रखी जा सकती हैं।

4·65. शारीरिक प्रशिक्षण, ड्रिल या औपचारिक गतिविधि पर बल की अपेक्षा व्यापक आधारों पर टिकी शारीरिक शिक्षा को स्थान मिलना चाहिए। शारीरिक शिक्षा का पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाया जाना चाहिए कि उसमें प्राथमिक स्तर से लेकर निम्न माध्यमिक स्तर तक के समस्त विद्यार्थी भाग ले सकें, खेल-कूद में सक्षम विद्यार्थियों को ढूँढ़ा जा सके और उन्हें इस सक्षमता के विकास के अवसर दिए जा सकें।

4·66. शारीरिक शिक्षा चूँकि सामान्य शिक्षा का अविभाज्य अंग है, इसलिए समय सारिणी के अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उसमें भाग लेना अनिवार्य होना चाहिए। समाज सेवा, स्काउटिंग, गाइडिंग, एन० सी० सी० आदि गतिविधियों को शारीरिक शिक्षा के मूलभूत और अनिवार्य कार्यक्रम से अलग होना चाहिए।

4·67. शारीरिक शिक्षा के लिए दिन का ज्यादा गरम समय नहीं चुनना चाहिए। प्रातः और सायं का शीतल समय अधिक उपयुक्त है। मौसम के अनुसार समय परिवर्तित होना चाहिए। शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत समय सारिणी में उसके लिए घण्टे निर्धारित करते समय और टूर्नामेण्टों और प्रतियोगिताओं के कार्यक्रम बनाते समय स्थानीय मौसम को ध्यान में रखना चाहिए।

4·68. प्राथमिक, मिडिल और नवीं-दसवीं (लोअर सैकेंड्री) शिक्षास्तरों में से प्रत्येक में डाक्टरी निरीक्षण अनिवार्यतः होना चाहिए। जिन विद्यार्थियों में रोग या शारीरिक कमियाँ पाई जाएँ उनका उचित इलाज होना चाहिए।

स्कूली कार्य के क्षेत्र और समय विभाजन

4·69. इस बात का पहले भी संकेत किया जा चुका है कि शिक्षा को जीवन के निकट लाने के लिए स्कूल के कार्य और समय की व्यवस्था को लचीला बनाना आवश्यक है। फिर भी स्कूल-कार्य के क्षेत्र और समय-विभाजन की एक योजना नीचे दी जा रही है। यह योजना वैकल्पिक है, न कि निर्धारित।

स्कूली कार्य के क्षेत्र

कक्षा I एवं II

1. प्रथम भाषा
2. गणित
3. परिवेश अध्ययन (सामाजिक अध्ययन और सामान्य विज्ञान)
4. कार्यानुभव और कलाएँ
5. स्वास्थ्य शिक्षा और खेल

कक्षा III, IV एवं V

1. प्रथम भाषा
2. गणित
3. परिवेश अध्ययन I (सामाजिक अध्ययन)
4. परिवेश अध्ययन II (सामान्य विज्ञान)
5. कार्यानुभव और कलाएँ
6. स्वास्थ्य शिक्षा और खेल

कक्षा VI, VII एवं VIII

1. प्रथम भाषा यथावत और द्वितीय भाषा का प्रारम्भ (हिन्दी अथवा अंग्रेजी)
2. गणित (बीजगणित और ज्यामिति सहित)
3. सामाजिक विज्ञान (इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र और अर्थशास्त्र के तत्त्व)
4. विज्ञान (भौतिक विज्ञानों और जीव विज्ञानों के तत्त्व)
5. कलाएँ
6. कार्यानुभव
7. शारीरिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा और खेल

कक्षा IX एवं X

1. प्रथम और द्वितीय भाषाएँ यथावत और तृतीय भाषा का प्रारम्भ (अंग्रेजी अथवा कोई भारतीय भाषा)
2. गणित (बीजगणित और ज्यामिति सहित)
3. सामाजिक विज्ञान (इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान)
4. विज्ञान (भौतिक विज्ञान और जीव विज्ञान)
5. कलाएँ
6. कार्यानुभव
7. शारीरिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा और खेल ।

4·70. यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए। उपरोक्त योजना स्कूली कार्य का नमूना है। यदि पाठ्यक्रम के क्षेत्रों के विषयों को गिना जाए तो लग सकता है कि इसमें बहुत अधिक विषय हैं। वस्तुतः कलाओं, कार्यानुभव, शारीरिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा और खेलों को विषय नहीं मानना चाहिए।

स्कूल में शिक्षण का समय

4·71. एक वर्ष में न्यूनतम 240 कार्य-दिवस होने चाहिएँ जिनमें से 220 दिन पढ़ाई के लिए हैं और 20 दिन कैम्पों और समाज-सेवा के लिए। निम्न-प्राथमिक कक्षाओं में शिक्षण-समय प्रतिदिन 3 से 4 घण्टे हो सकता है। उच्चतर प्राथमिक या मिडिल और निम्न माध्यमिक कक्षाओं में शिक्षण समय पाँच घण्टे से कम नहीं होना चाहिए। प्रत्येक विद्यालय से यह अपेक्षा की जाती है कि प्राथमिक कक्षाओं के लिए प्रत्येक कार्य-दिवस के शिक्षण समय के अतिरिक्त कम-से-कम एक घण्टा दैनिक-सभा, दिनचर्याओं और एक अथवा दो अर्द्ध-अवकाशों के लिए रखेगा। उच्चतर प्राथमिक और निम्न माध्यमिक कक्षाओं के लिए प्रातःकालीन दैनिक-सभा और एक अर्द्ध-अवकाश के लिए 50 मिनट होने चाहिए।

कक्षा I से V के लिए समय-विभाजन

4·72. इन कक्षाओं के लिए बेलोच समय-सारिणी नहीं होनी चाहिए क्योंकि विषय-सीमाओं का अतिक्रमण करने वाली परियोजनाओं और समूह-गतिविधियों के लिए लचीले समय-विभाजन की आवश्यकता होती है। फिर भी, समय-विभाजन की एक मोटी रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। यह विभाजन स्कूल की गतिविधियों के प्रत्येक क्षेत्र के लिए कुल समय के प्रतिशत पर आधारित है।

कक्षा	प्रथम भाषा	25
I-II	गणित	10
	परिवेश-अध्ययन (सामाजिक अध्ययन और सामान्य विज्ञान)	15
	कार्यानुभव और कलाएँ	25
	स्वास्थ्य शिक्षा और खेल	25
	योग	100
कक्षा	प्रथम भाषा	25
III-V	गणित	15
	परिवेश-अध्ययन I (सामाजिक अध्ययन)	10
	परिवेश-अध्ययन II (सामान्य विज्ञान)	10
	कार्यानुभव और कलाएँ	20
	स्वास्थ्य शिक्षा और खेल	20
	योग	100

4·73. यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रथम भाषा परिवेश-अध्ययन और खेलों से भी सीखी जायेगी। गणित भी कार्यानुभव, कलाओं और खेलों के माध्यम से सीखा जायेगा। अतः कार्यानुभव, कलाओं और खेलों को कुल समय का 40% दिया गया है। अन्यथा पुस्तकीय शिक्षा और रटने से स्थानान्तरण अत्यन्त कठिन होगा।

कक्षा VI-X के लिए समय-विभाजन

4·74. उच्चतर प्राथमिक और निम्न माध्यमिक स्कूल सप्ताह में छः दिन लगने चाहिएँ। यदि यह माना जाए कि प्रति सप्ताह में 30-40 मिनट प्रत्येक के हिसाब से 48 घण्टे होंगे, तो शिक्षण-घण्टों को इस प्रकार से विभाजित किया जा सकता है। किन्तु, इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए जा सकते हैं क्योंकि यह सारिणी वैकल्पिक है।

कक्षा VI-VIII	प्रथम भाषा	8
	द्वितीय भाषा	5
	गणित	7
	विज्ञान (जीव विज्ञान और भौतिक विज्ञान)	7
	सामाजिक विज्ञान (इतिहास, भूगोल, नागरिक-शास्त्र और अर्थशास्त्र)	6
	कलाएँ	4
	कार्यानुभव	5
	शारीरिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा और खेल	6
	योग	48

कक्षा IX और X	प्रथम भाषा	6
	द्वितीय भाषा	5
	तृतीय भाषा	2
	गणित	7
	विज्ञान (जीव विज्ञान और भौतिक विज्ञान)	7
	सामाजिक विज्ञान (इतिहास, भूगोल, नागरिक-शास्त्र, अर्थशास्त्र इत्यादि)	7
	कलाएँ	3
	कार्यानुभव	5
	शारीरिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा और खेल	6
	योग	48

4·75. यह स्पष्ट है कि यहाँ भाषाओं के लिए निर्धारित समय प्राथमिक कक्षाओं के लिए निर्धारित 25% समय से कुछ कम है। माध्यमिक स्तर पर समय का अनुपात वही है, यद्यपि भाषाओं की संख्या बढ़ कर तीन हो गई है। परन्तु भाषा के ज्ञान का अर्जन विज्ञानों और सामजिक विज्ञानों से भी होगा क्योंकि शिक्षा का माध्यम अधिकतर प्रथम भाषा है। अतः इस स्तर पर प्रथम भाषा के लिए समय और भी कम है। भाषा-ज्ञान के लिए वास्तविक समय कहीं अधिक है क्योंकि वह विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों के माध्यम से भी प्राप्त होगा। कार्यानुभव, कलाओं और शारीरिक शिक्षा के लिए समय का अनुपात एक-तिहाई से कुछ ही कम है। प्रारम्भिक वर्षों की भाँति ही यह समय कम किया गया है। इसका कारण यह है कि विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और गणित, समय का एक बड़ा भाग—वस्तुतः आधे से कुछ ही कम—ले जाते हैं।

5

शिक्षण-विधि और विषय-शिक्षण के कुछ पक्ष

5·1. शिक्षक-विद्यार्थी गतिविधियां और उनकी आयोजना शैक्षिक प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण है। पाठ्यक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति उनको स्पष्टतः समझने और प्रभावपूर्ण प्रयोग पर निर्भर करती है। विद्यार्थी की प्रकृति और पृष्ठभूमि तथा स्थानीय स्थितियां और उपलब्ध स्रोतों को देखते हुए शिक्षा के लिए ऐसी स्थितियां उत्पन्न करनी होंगी कि शिक्षण-उद्देश्यों को साकार किया जा सके। ये स्थितियां कक्षा के अन्दर और बाहर दोनों स्थानों पर उत्पन्न की जा सकती हैं।

5·2. अध्यापक ऐसा मार्ग-दर्शक, सहायक, और सबसे बढ़कर समझदार मित्र होता है जिसकी ओर बच्चे मार्ग न खोज पाने पर या किसी सूचना की आवश्यकता होने पर प्रसन्नता और विश्वासपूर्वक देखते हैं। अध्यापक की भूमिका आज्ञा देने वाले की अपेक्षा सलाहकार और प्रस्तोता की होनी चाहिए। उसे बच्चे को यह बताना चाहिए कि वह विषय का मनन किस प्रकार करे और सीखने के लिए किस प्रकार निजी विधि का विकास करे तथा अपने एकत्र किए या खोजे हुए ज्ञान को किस प्रकार समंजित करे। अध्यापक को यह स्मरण रखना चाहिए कि बच्चा काम करके और स्वयं खोज करके बेहतर ढंग से सीखता है, न कि तथ्यात्मक ज्ञान प्रदर्शन को दब्बू बनकर सुनने से। केवल इसी खोज की ओर प्रवृत्त करने वाली क्रियात्मक और सर्जनात्मक प्रक्रिया से ही बच्चे में रुचि उत्पन्न होती है; उसे आनन्द मिलता है और उसका ध्यान तुरन्त आकर्षित होता है।

5·3. बच्चे में आमतौर से अध्यापक के लिए आदर-भाव होता है। अध्यापक को वास्तव में एक उदाहरण होना चाहिए, किन्तु उसे स्वयं को इस रूप में सायास प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। उसे अपनी बुराइयों और कमियों के बच्चों पर पड़ने वाले विनाशक प्रभाव का अनुमान होना चाहिए। जब बच्चा कोई प्रश्न पूछे तो उसे डांटना नहीं चाहिए न ही यह कहकर उसे अपमानित ही करना चाहिए कि 'तुम नहीं समझ सकते'। अध्यापक यदि प्रयत्न करे तो उसे अपनी बात हमेशा समझा सकता है।

5·4. ज्ञानार्जन-प्रक्रिया की कुछ मूलभूत शर्तें हैं, जिन्हें उचित दृष्टिकोण और विधि अपनाने के लिए अध्यापक को ध्यान में रखना होगा। स्थूल से सूक्ष्म की ओर, सरल से जटिल की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर, सम्पूर्ण से खण्डों की ओर, सुगम से कठिन की ओर आदि शिक्षण के कतिपय मूल तत्त्व इतने प्रसिद्ध हैं कि इन पर

विशेष कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु कुछ और बातों पर थोड़ा विचार होना चाहिए।

5·5. **अनुभव ज्ञानार्जन की कुंजी है**—वास्तविक स्थितियों में अनुभव भौतिक संसार की सीधी जानकारी कराता है। संगत, सुसम्बद्ध और तर्कपूर्ण अनुभव परस्पर एक-दूसरे को गहराते हैं, जबकि असम्बद्ध अथवा खण्ड-खण्ड अनुभव अधिक समय लेते हैं और एक-दूसरे से परस्पर टकराते हैं। यहाँ इस बात के भी अनेक अवसर हैं कि बच्चों के मनोवैज्ञानिक जीवन के अनेक पक्षों को संश्लिष्ट रूप में उपयोग करके उन्हें प्राप्त अनुभवों के माध्यम से सिखाकर शिक्षा को अधिक प्रभावशील बनाया जा सके।

5·6. **लक्ष्य ज्ञान का मूल है**—शिक्षण का प्राथमिक कार्य परिवेश का इस प्रकार उपयोग करना है कि बच्चे कुछ सीखने के लिए प्रेरित हों। यह उस अवस्था में सर्वश्रेष्ठ रूप में होता है जब बच्चे के लिए शिक्षा के लक्ष्यों का निर्धारण, ज्ञान उस पर अधिकार, सर्जन, अभिव्यक्ति, स्वयं को विश्व और अन्यों से सम्बद्ध करने की आवश्यकताओं के अनुरूप किया जाता है। प्रशंसा और मान्यता आदि से बच्चा शीघ्र सीखता है। विद्यार्थी के समक्ष ऐसी समस्याएँ और स्थितियाँ रखनी चाहिएँ कि वह उनमें अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग कर सके, सफलता का सन्तोष प्राप्त कर सके और इस प्रकार ज्ञान और प्रवीणता प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त हो सके। नया ज्ञान प्राप्त करने का रोमांच और उससे सन्तोष प्राप्त करना अपने आप में उच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिए शक्तिशाली प्रेरक तत्त्व है।

5·7. **इच्छा ज्ञान का आधार है**—ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा बच्चे के विकास के स्तर पर निर्भर करती है। बच्चे के शारीरिक, बौद्धिक और भावनात्मक विकास का स्तर ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जो ज्ञान की सीमा भी बनती हैं और आधार भी। यदि बच्चे को ठीक दिशा में अनुभव प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया जाए, तो वह बड़ों के अनुमान से कहीं अधिक ज्ञानार्जन की क्षमता रखता है। विद्यार्थी को उसके विकास के स्तर तथा रुचि के अनुरूप अनुभव प्राप्त करवाने के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण योजना-निर्माण तथा उसकी रुचियों और क्षमताओं को समझने के लिए विशिष्ट दृष्टि की आवश्यकता है।

5·8. स्कूलों में विद्यार्थियों की बढ़ती हुई संख्या के संदर्भ में ज्ञानार्जन की इच्छा का महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। बहुत से बच्चे ऐसे परिवारों से आते हैं जहाँ अभिभावक शिक्षित नहीं होते (और यह संख्या काफी बड़ी है, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में)। उनके पास वह पृष्ठभूमि नहीं होती कि वे अध्ययन-अध्यापन-प्रक्रिया में इच्छा और प्रेरणा से उस धरातल पर भाग ले सकें जिस धरातल पर शिक्षित परिवारों के बच्चे ले सकते हैं। पहली पीढ़ी के इन विद्यार्थियों के लिए विशेष प्रारम्भिक कक्षाओं का प्रबन्ध अनिवार्य है ताकि वे नियमित व स्कूली शिक्षा से लाभ उठा सकें। ये प्रारम्भिक कक्षाएँ प्राथमिक कक्षाओं के शुरू में ही नहीं बल्कि बाद में भी अनिवार्य हैं।

5·9. छोटे बच्चों को पढ़ाने की विधियों में उपरोक्त सिद्धान्त प्राथमिक है, और सब विषयों से सम्बद्ध है। निम्नलिखित अनुच्छेदों में स्कूली शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर विषयानुसार विधियों और दृष्टिकोणों को संक्षिप्ततः स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इसके पश्चात् पाठ्येतर और स्वतन्त्र गतिविधियों पर संक्षिप्त रूप से विचार किया गया है।

5·10. **प्राथमिक स्तर**—सम्प्रेषण का सर्वाधिक प्रयुक्त माध्यम भाषा है। यह वास्तविक प्रयोग से अधिकाधिक सीखी जा सकती है। सन्तोषजनक ढंग से वार्तालाप करना सीखना प्रारम्भिक वर्षों में पहला कदम है। फिर पढ़ना और लिखना आता है। पढ़ने की इच्छा, विभिन्न स्तरों पर क्रमशः स्तरीकृत शब्दावली का ज्ञान, और संरचनाओं का क्रम में प्रयोग, भाषा-शिक्षण-पद्धति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

5·11. प्रथम और द्वितीय कक्षाओं में बच्चों को कहानियाँ, वर्णन, काव्यपाठ और औपचारिक बातचीत ध्यानपूर्वक सुनने का अवसर देना चाहिए। कथावाचन, काव्यपाठ और सहगान इत्यादि के माध्यम से उनमें मौखिक अभिव्यक्ति की योग्यता का विकास करना चाहिए। भाषा विशेष के पठन के शिक्षण की पद्धति मातृभाषा की लिपि की प्रकृति, उसकी वर्तनी-पद्धति, शब्द-ज्ञान में बच्चों की रुचि और परिवेश पर निर्भर करती है। पहली और दूसरी कक्षा की पाठ्य-पुस्तकों में बच्चों की रुचि की सामग्री होनी चाहिए। वह उनके दैनिक अनुभवों के क्षेत्र की होनी चाहिए। पाठ्य-पुस्तकों की सामग्री की परिवेश-अध्ययन के विषयों से संगति होनी चाहिए। साथ ही वह ऐसी भी होनी चाहिए कि उससे बच्चों में वांछित दृष्टिकोणों का विकास हो सके।

5·12. गणित के स्वरूपों का ज्ञान देने के लिए बच्चे को जीवन की ठोस स्थितियों के साथ उसके अनुभवों को जोड़कर सहायता देनी चाहिए। लगभग प्रत्येक स्थिति में खोज की विधि अपनानी चाहिए जिसमें अध्यापक को मार्ग-दर्शन प्रदान करना चाहिए। अध्यापक को सावधानीपूर्वक ऐसी सामग्री का चयन करना चाहिए जो बच्चों में खोज की प्रवृत्ति जगा सके तथा रूपाकारों और सामान्यीकरणों को ढूँढ़ने के लिए प्रेरित कर सके। बच्चों को संख्याओं, रूपों और आकृतियों की विशेषताओं और सम्बन्धों को समझाने के लिए ठोस उदाहरणों पर आधारित आगमन प्रणाली काफी सहायक है।

5·13. सावधानीपूर्ण और भली-भाँति निर्देशित निरीक्षण ज्ञान प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। यह अनेक विषयों पर लागू होता है। प्राथमिक स्तर पर इसका महत्त्व और भी अधिक है। बच्चों को अपने आस-पास उगने वाली वनस्पतियों का और पशुओं का निरीक्षण करने देना चाहिए। उन्हें प्रकृति के प्रत्येक पक्ष का निरीक्षण करना चाहिए, उन्हें वस्तुओं की गंध का अनुभव और उनका स्पर्श करना चाहिए, उनकी आकृतियों और आकारों का अध्ययन करना चाहिए और उनके भार का अनुमान लगाना चाहिए। उन्हें गतिशील वस्तुओं, वृद्धिशील वस्तुओं, जैसे पौधे, पशु अथवामनुष्य के बाल या नाखून, का सरल यन्त्रों कीस हायता से निरीक्षण करना

चाहिए। प्रथम और द्वितीय कक्षाओं में एक संश्लिष्ट-पाठ्यक्रम के रूप में परिवेश-अध्ययन तथा तृतीय से पंचम कक्षाओं में प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के शिक्षण के लिए यह विधि बहुत उपयोगी है क्योंकि इनका उद्देश्य अधिकाधिक सीमा तक बच्चों की इन्द्रियों को सबल बनाना तथा उनके अनुभवों में वृद्धि करना है। पहली और दूसरी कक्षा के बच्चों को बिना सामान्यीकरण किए अपने निरीक्षण और अनुभवों को मौखिक रूप से अभिव्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। बाद में उनसे उनके अनुभवों को लिखवाया जा सकता है अथवा चित्र बनवाकर या कविता लिखवा कर अभिव्यक्त करवाया जा सकता है।

5·14. परिवेश-अध्ययन के शिक्षण की संश्लिष्ट विधि सम्पूर्ण विषय की अपेक्षा अध्यायों और वस्तु वृत्तों पर आधारित होती है। इससे बच्चों को स्थितियों से सीखने का अवसर दिया जाता है। इस प्रकार के अनुभवों की आयोजना में अध्यापक को अधिक स्वतन्त्रता होती है। पाठ्यक्रम में ऐसी जानकारी, समझ, रुचियाँ, मूल्य और दृष्टिकोण होना चाहिए जिनका बच्चों में विकास करना है। इसमें पाठ्य-सामग्री, सहायक-सामग्री आदि पर भी संकेत होने चाहिएँ ताकि उद्देश्य-प्राप्ति में सहायता मिल सके। अध्ययन-अनुभवों की आयोजना बच्चों को दृष्टि में रख कर करनी चाहिए। मिट्टी की छोटी-छोटी वस्तुएँ बनाने में बच्चों की सहायता करना, उन्हें स्कूल की वाटिका में ले जाना और उनसे फूलों के बारे में बातचीत करना, आस-पास के क्षेत्रों के भ्रमणों का आयोजन, कक्षा के अन्दर या कक्षा के बाहर उपलब्ध वस्तुओं की नाप जोख करना, भोजन, कपड़े और आवास के संदर्भ में विभिन्न ऋतुओं पर बातचीत करना, त्यौहारों का आयोजन और बच्चों के सामने उन स्थितियों को रखना जिनसे वे नागरिक और सामाजिक जीवन के मुख्य तत्वों को समझ सकें इत्यादि गतिविधियों के कुछ उदाहरण हैं जिनके द्वारा बच्चों को विभिन्न क्षेत्रों का ज्ञान दिया जा सकता है और उन्हें संबंधित कार्यों में प्रवीण बनाया जा सकता है। यहाँ इस तथ्य पर बल देना आवश्यक लगता है कि इस स्तर पर आयोजित गतिविधियों और प्रयुक्त विधियों से बच्चों में आत्म बलिदान, राष्ट्रभक्ति, मानवीय भ्रातृत्व आदि के मूल्यों का विकास होगा। मूल्यों के विकास पर शिक्षा के उद्देश्यों के अन्तर्गत बात की जा चुकी है। किन्तु प्रायः देखा गया है कि इन मूल्यों का विकास करने के लिए व्यावहारिक अध्ययन-अनुभव उपलब्ध कराने की अपेक्षा भाषण बाजी ही की जाती है। इस बात पर बल देना आवश्यक लगता है कि प्राथमिक स्तर पर अधिकांश सीखना-सिखाना कार्यानुभवों, सौन्दर्यात्मक गतिविधियों और खेलों के माध्यम से ही होना चाहिए। बच्चों के अनुभव क्षेत्र में वृद्धि करने और समुदाय को स्कूल के सम्पर्क में लाने के लिए समुदाय में उपलब्ध स्रोतों, विशेषतः मानवीय स्रोतों का उपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए। अध्ययन के परिणामों का थोड़े-थोड़े समय पर मूल्यांकन होना चाहिए ताकि अपनाई गई विधि के उपयोग का अध्यापक को अनुमान हो सके। इससे यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि विद्यार्थी और उसके अभिभावकों को किस रूप में पश्चपोषित करना है। मूल्यांकन का रिकार्ड सावधानी से रखा जाना चाहिए।

5·15. **मिडिल स्तर**—प्रथम भाषा के अध्ययन का लक्ष्य श्रवण, मौखिक अभिव्यक्ति, पठन और लिखित अभिव्यक्ति की योग्यताओं का विकास है। इस स्तर पर शिक्षण को बच्चों की सौन्दर्यात्मक क्षमता, मौलिकता, सर्जनात्मकता और देश के प्रति गर्व के भाव के विकास में सहायक होना चाहिए। ज्ञान और मनोरंजन हेतु स्वाध्याय के लिए अतिरिक्त पाठ्य-सामग्री उपलब्ध करायी जानी चाहिए। विद्यार्थियों में पढ़ने की रुचि का विकास होना चाहिए। काव्य पाठ, नाट्य प्रतियोगात्मक लेखन, दीवाल समाचार पत्र आदि के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। इस स्तर पर क्योंकि दूसरी भाषा भी होगी, इसलिए उसका अध्ययन रुचिपूर्ण बनाया जाना चाहिए। बच्चों के लिए प्रयोजन का बड़ा महत्त्व है अतः बालक की प्रगति को हर कदम पर उसके लिए प्रयोजनीय बना कर उसे पुष्ट करते जाना चाहिए। साथ ही चित्र सामग्री और पुस्तक प्रदर्शनी इत्यादि का आयोजन होना चाहिए। उन्हें भाषण देने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

5·16. गणित-शिक्षण में खोज-पद्धति का प्रयोग करते रहना चाहिए। सीधे प्रस्तुतीकरण के लिए प्रश्न-उत्तर विधि का पूरक के रूप में प्रयोग किया जा सकता है ताकि प्रगति की उचित गति को बनाये रखा जा सके। ठोस स्थितियों पर आधारित आगमन विधि इस स्तर पर भी उपयोगी रहेगी। फिर भी, जैसे-जैसे विद्यार्थी ऊँची कक्षाओं में पहुँचता जाए, वैसे-वैसे निगमनात्मक विधि की ओर अग्रसर होना चाहिए। विद्यार्थियों को स्वतन्त्र विचारणा और समस्या-समाधान के लिए प्रशिक्षित करने के वास्ते इस विश्लेषणात्मक विधि का उपयोगी रूप से प्रयोग किया जा सकता है।

5·17. विषय-सीमाओं के स्तर-दर-स्तर प्रसार के लिए उत्तरोत्तर वृद्धि-विधि का प्रयोग किया जाना चाहिए। गणित तथा विज्ञान के प्रयोगों को सम्पूर्ण पाठ्यक्रम में प्राकृतिक रूप से समंजित किया जाना चाहिए। विषय का अध्ययन करने के लिए उसका आस-पास के जीवन और अन्य विषयों के साथ समन्वय विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी और प्रेरक सिद्ध होगा। यहाँ ग्राफ़ों और आँकड़ों का स्थान सहज व स्वाभाविक है।

5·18. विज्ञान के शिक्षण में आविष्कृत स्थितियों को क्रमशः प्रस्तुत किया जाना चाहिए। विद्यार्थी को वैज्ञानिक उपकरणों का संचालन करना चाहिए और उन्हें प्रयोग भी करने चाहिएँ। अध्यापक द्वारा प्रदर्शन और बीच-बीच में प्रश्नों-उत्तरों के माध्यम से द्रव्यों के गुण और कार्य-कारण-पद्धति की स्थापना में सहायता मिलेगी। प्रदर्शनों और प्रयोगों से प्राप्त ठोस अनुभवों से विद्यार्थियों को सिद्धान्त समझने में सहायता मिलेगी।

5·19. इस स्तर पर विद्यार्थी के समक्ष इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र की विशेषताएँ प्रस्तुत की जानी चाहिएँ। इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि मानव को केन्द्र में रखते हुए संश्लिष्ट सामाजिक ज्ञान के दृष्टिकोण से ही इन विषयों का शिक्षण किया जाए।

5·20. भारतीय इतिहास, भूगोल या नागरिक शास्त्र की विषय सामग्री को प्रमुख शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत करना और प्रत्येक शीर्ष के अन्तर्गत सम्बन्धित प्रमुख विचारों व बोध को विशेष रूप से प्रस्तुत करना उनको स्पष्ट करने के लिए अधिक उपयोगी होगा। सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन से जिन मूल्यों का विकास किया जा सकता है, उन्हें विशेष विधियों, क्रियाकलापों, वाद-विवादों और भ्रमणों आदि के माध्यम से भी विकसित किया जाना चाहिए। इन अनुभवों के फलस्वरूप विद्यार्थियों में देश के प्रति प्रेम तथा विभिन्न क्षेत्रों, धर्मों और भाषायी-वर्गों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों के योगदान से विकसित संश्लिष्ट संस्कृति की उपलब्धियों की समझ पैदा होनी चाहिए। "एक भारत" के केन्द्रीय वृत्त वाले कैम्पों और परियोजनाओं में भाग लेने से उनमें सहनशीलता और राष्ट्रीय एकता की भावनाएँ उत्पन्न होंगी। अतः इनका आयोजन भी लाभदायक होगा। राष्ट्रीय विकास के विषयों पर वाद-विवादों के माध्यम से अतीत और सांस्कृतिक तथा सामाजिक संस्थाओं पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

5·21. इस बात पर बल देना आवश्यक है कि कार्यानुभव और खेल-कूद को गणित, विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के साथ संयुक्त करना चाहिए। इन आयोजनों को अधिगम-अनुभवों के महत्त्वपूर्ण माध्यम के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए। थोड़े-थोड़े समय के उपरान्त अधिगम-परिणामों का मूल्यांकन करके प्रगति का निरन्तर लेखा-जोखा करना चाहिए। अधिगम में सामुदायिक स्रोतों के प्रयोग से एवं स्कूल समुदाय के परिवेश व जीवन सुधार में सहायता देकर समुदाय और स्कूल को परस्पर निकट लाना चाहिए।

5·22. **नवीं-दसवीं कक्षाएँ (Lower Secondary)**—जहाँ तक प्रथम भाषा का सम्बन्ध है, विद्यार्थी को इस स्तर पर व्याख्यानों और रेडियो पर प्रसारित वार्ताओं को समझने में सक्षम होना चाहिए। उसे प्रभावशाली मौखिक और लिखित अभिव्यक्ति में भी सक्षम होना चाहिए। उसमें साहित्यिक गद्य के अनेक रूपों को पढ़ कर समझने तथा काव्यास्वादन की योग्यता भी उत्पन्न होनी चाहिए। यहाँ गहरी विश्लेषणात्मक दृष्टि और अभ्यासों का प्रयोग आवश्यक होगा। व्याकरण-शिक्षण में भाषा-विश्लेषण के उन पक्षों पर बल देना चाहिए जो भाषा को बेहतर ढंग से समझने और अभिव्यक्ति में सहायक हैं। लघु कथाओं, जीवनियों इत्यादि के रूप में पूरक सामग्री दी जानी चाहिए। भाषा के माध्यम से वैचारिक क्षमता को बढ़ाने के लिए भली भाँति निर्देशित अभ्यासों या गृहकार्य तथा नाट्य कलाओं, निबन्ध प्रतियोगिताओं, काव्य-पाठ, विद्यालय-पत्रिका, सामूहिक विचार आदि की सहायता लेनी चाहिए।

5·23. गणित-शिक्षण में आगमन विधि से निगमन विधि की ओर अग्रसर होने पर बल देना चाहिए। विद्यार्थी में विश्लेषणात्मक दृष्टि का विकास होना चाहिए। इसका प्रयोग समस्याओं के समाधान और प्रयोगों को सिद्ध करने में होना चाहिए। स्वतन्त्र चिन्तन और समस्याओं के नवीन समाधान और प्रमाण खोजने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना चाहिए। अनुमान, ग्राफ और आँकड़ों पर के शिक्षण को वर्तुल रूप से

पाठ्यक्रम में सन्निहित किया जाना चाहिए। साथ ही उसे समुच्चयों, मानचित्रों, कार्यों और अन्य प्रयोगों से जोड़ा जाना चाहिए। गणितीय स्थितियों में गति चार्टों के स्वरूपों को भी प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

5·24. रसायन शास्त्र, भौतिकी या जीव-विज्ञान के मूल सिद्धांतों को प्रारंभ किया जाना चाहिए। ज्ञान के इस स्तर पर खोज अथवा प्रयोग विधि उचित है। फिर भी जिज्ञासा और सन्देह को प्रोत्साहन देना चाहिए ताकि नियम एवं सिद्धान्त बिना किसी शंका के स्वीकार न कर लिए जाएँ। विज्ञान शिक्षण की प्रमुख दृष्टि सिद्ध करने अथवा असिद्ध करने और नये सम्बन्धों की खोज करने की होनी चाहिए। अन्वेषण और संशोधनों को प्रोत्साहन देने के लिए विज्ञान-क्लब की स्थापना की जा सकती है।

5·25. राजनैतिक विकास की पृष्ठभूमि में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्षों पर बल देते हुए इतिहास-शिक्षण को वस्तुगत और तुलनात्मक बनाना चाहिए। विभिन्न इतिहास कालों के जीवन और समाज के विभिन्न पक्षों को पढ़ाते समय अतीत और वर्तमान में सम्बन्ध स्थापित करना अपेक्षित है। ऐतिहासिक तथ्यों को विस्मृत न करते हुए संश्लेषण और समन्वय की धारा पर बल देना चाहिए। संघर्षों और तनावों को सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है। प्रस्तुतीकरण की विधि से राष्ट्रीय और सांस्कृतिक दाय का महत्त्व स्पष्ट होना चाहिए।

5·26. चुनौती भरे कार्यों, समूह परियोजनाओं, वाद-विवादों, नाटकीकरण और इतिहास क्लब की गतिविधियों के माध्यम से विद्यार्थियों को अधिक स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का प्रोत्साहन देना चाहिए। इतिहास-शिक्षण को जीवन्त बनाने और विद्यार्थियों की कल्पना को प्रेरित करने के लिए कई प्रकार के साधनों, चार्टों, मॉडलों, काल रेखाओं, संवादों आदि का प्रयोग किया जा सकता है। विद्यार्थियों के समक्ष इतिहास-विधि को प्रायोगिक कार्य के माध्यम से रखा जाना चाहिए।

5·27. भूगोल के अध्ययन का लक्ष्य विश्व के लोगों की और विभिन्न परिवेशों के सन्दर्भ में उनकी समस्याओं की सहानुभूति पूर्ण जानकारी देना है। इसके साथ ही विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों और विश्व के राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता पर भी प्रकाश पड़ना चाहिए। बढ़ती हुई जनसंख्या का प्राकृतिक स्रोतों से सम्बन्ध और उनके संरक्षण की आवश्यकता पर भी बल देना चाहिए। विद्यार्थी के समक्ष भूगोल-विधि प्रायोगिक कार्य के माध्यम से रखी जानी चाहिए।

5·28. नागरिक शास्त्र शिक्षण का मूल उद्देश्य समझदार और परिपक्व नागरिकों का निर्माण है। उन विधियों का अधिक प्रयोग होना चाहिए जिनसे विद्यार्थियों को किसी काम में लेने की प्रेरणा मिलती है, जैसे सेमिनार, समूह-विचार-विमर्श। विद्यार्थियों को कैम्पों में सामाजिक जीवन जीने का अवसर देना चाहिए ताकि वे दूसरों के साथ उत्तरदायित्वों के निभाने, दूसरों के प्रति सहनशील होने और निर्णय लेने में भाग लेना सीख सकें।

5·29. अर्थशास्त्र का प्रारम्भ आर्थिक क्रिया-कलापों के अध्ययन से किया जाना चाहिए। वास्तव में सभी सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन सावधानीपूर्वक आयोजित क्रियाकलापों और निरीक्षणों से होना चाहिए। विद्यार्थियों में यह प्रारम्भिक समझ उत्पन्न होनी चाहिए कि सम्बद्ध आँकड़े कौन से हैं और इनका प्रलेखन और विश्लेषण कैसे किया जाता है। सामाजिक विज्ञान, कार्यानुभव, स्कूल द्वारा आयोजित उत्सवों, साप्ताहिक कार्यक्रमों तथा वाद-विवाद इत्यादि के माध्यम से शिक्षा को यथार्थ परक बनाना चाहिए।

5·30. मनोविज्ञान के तत्त्वों का शिक्षण समूहों के व्यवहार के निरीक्षण तथा आत्मनिरीक्षण के माध्यम से होना चाहिए। समूह विचार-विमर्श तथा व्यक्तिगत मन्त्रणा के माध्यम से सामंजस्य की समस्याओं और मानव सम्बन्धों की समझ उत्पन्न होनी चाहिए। विद्यार्थियों को यह जानना चाहिए कि ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाता है और योग्यताओं का विकास कैसे होता है।

5·31. कार्यानुभव, शारीरिक शिक्षा, सौन्दर्यात्मक गतिविधियाँ एवं खेल-कूद ऐसे होने चाहिएँ कि उनसे इस प्रकार के ज्ञान, कुशलता और दृष्टिकोण का विकास हो कि भाषाएँ, विज्ञान, गणित, सामाजिक विज्ञान और कलाएँ सीखने में विद्यार्थियों को सुगमता हो।

5·32. मूल्यांकन थोड़े-थोड़े समय पर होना चाहिए। आत्म-मूल्यांकन भी प्रारम्भ किया जाना चाहिए। प्रत्येक मूल्यांकन पर विद्यार्थियों से अलग-अलग बातचीत होनी चाहिए। थोड़े-थोड़े समय पर परिणामों पर अभिभावकों से भी बातचीत होनी चाहिए।

5·33. दृष्टिकोणों, रुचियों और मूल्यों के विकास में पाठ्येतर गतिविधियों की भूमिका पर पहले भी संकेत किया जा चुका है। सम्पूर्ण स्कूल कार्यक्रम में पाठ्येतर गतिविधियों पर पर्याप्त बल दिए बिना शिक्षा के सब उद्देश्यों की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वस्तुतः संतुलित व्यक्ति वही है जो शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ, मानसिक दृष्टि से चुस्त, भावनात्मक दृष्टि से भली-भाँति समंजित और सामाजिक रूप में उपयोगी है। कक्षा में शिक्षण-मात्र से ही यह समन्वित विकास नहीं हो सकता। पाठ्येतर गतिविधियों का प्रयोग अनेक क्षेत्रों में किया जा सकता है। कक्षा-शिक्षण के पूरक के रूप में इन्हें विद्यार्थियों की सामाजिक और वैयक्तिक योग्यताओं की वृद्धि के लिए, अपेक्षित दृष्टिकोणों और रुचियों के विकास में, मूल्यों का निर्माण और पोषण करने में प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इनसे बच्चों को अपनी क्षमता को पहचानने का अवसर भी मिलता है।

5·34. पाठ्येतर गतिविधियों की प्रकृति और वस्तु का चयन भी विद्यार्थियों की परिपक्वता के स्तर के अनुरूप होना चाहिए। प्राथमिक स्तर पर गतिविधियाँ अधिकांशतः खेल, कल्पना की उन्मुक्त अभिव्यक्ति और असंरचित स्थितियों के रूप में होनी चाहिएँ ताकि सर्जनात्मकता और नैसर्गिकता का स्थान बना रहे। उनका

क्षेत्र भी विस्तृत होना चाहिए ताकि उनसे बच्चे की आवश्यकताओं और रुचियों की पूर्ति हो सके। एक और बात का भी ध्यान रखना चाहिए। वह यह है कि प्रत्येक बच्चा किसी-न-किसी गतिविधि में भाग ले। जहाँ तक सम्भव हो गतिविधि का चुनाव विद्यार्थियों पर छोड़ देना चाहिए। अध्यापक को आयोजन और कार्यान्वयन में केवल सलाहकार के रूप में काम करना चाहिए। स्थिति पर उसका नियन्त्रण दूर से होना चाहिए, निकट से नहीं।

5·35. गतिविधियों के आयोजन और कार्यान्वयन के मुक्त वातावरण में विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास शीघ्रता से होता है। स्कूल को विद्यार्थियों को अपनी प्रतिभाओं और रुचियों के विकास हेतु पाठ्यक्रम की सीमाओं से बाहर जाकर परियोजनाओं और गतिविधियों में भाग लेने के लिए प्रेरित करना चाहिए। विद्यार्थियों में आत्मविश्वास, आगे बढ़ने की भावना, नेतृत्व के गुण उत्पन्न करने और निजी क्षमताओं के विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

5·36. स्वतन्त्र गतिविधियाँ विद्यार्थियों को नया ज्ञान प्राप्त करने के भी अच्छे अवसर प्रदान करती हैं। विज्ञान के प्रतिभावान विद्यार्थियों आदि द्वारा प्रारम्भ की गई परियोजनाओं के माध्यम से वे अवश्य ही नई जानकारियाँ प्राप्त करते हैं, नयी विधियाँ सीखते हैं और संदर्भ ढूंढ़ना सीखते हैं तथा विधिपूर्वक रिपोर्टें तैयार करते हैं। इस प्रकार की गतिविधियाँ सर्जनात्मकता को बढ़ावा देने के लिए भी उपयोगी माध्यम हैं।

6

शैक्षिक सहायक-सामग्री

6·1. पाठ्य-पुस्तक के अतिरिक्त अध्यापक को अन्य उपयोगी सहायक शिक्षण-साधनों का चयन करने के लिए अनेक प्रकार की सामान्य सामग्री की खोज करनी चाहिए जिससे छात्रों के ज्ञान में वृद्धि हो, प्रत्ययों सम्बन्धी उनकी समझ अधिक व्यापक बन सके और विषय के प्रति रुचि जाग्रत हो।

6·2. अध्यापक जिन स्रोतों, सामग्रियों और साधनों का उपयोग करता है, वे **शिक्षण के साधन** कहलाते हैं। ये कई प्रकार के हो सकते हैं :

(i) कक्षा में प्रयुक्त पाठ्य-पुस्तकें;

(ii) सामान्य संदर्भ सामग्री, जैसे विश्वकोश, शब्दकोश, गजेटियर, एटलस, पुस्तिकाएँ और सरकारी प्रकाशन;

(iii) कक्षा में पढ़ाये जाने वाले विषयों पर उच्च स्तर की पुस्तकें;

(iv) अध्यापकों के लिए उपलब्ध अध्यापक-दर्शिका, पाठ्य पुस्तकों के अध्यापक-संस्करण, पाठ्यक्रम-मार्गदर्शक, और इसी प्रकार की अन्य सामग्री;

(v) विद्यार्थियों की कार्य पुस्तिकाएँ, आयोजित शिक्षण-सामग्री;

(vi) दृश्य-श्रव्य साधन।

6·3. यद्यपि सब प्रकार की शिक्षण-सामग्री में पाठ्यपुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु यह ज्ञान, समझ, सीखने की विधि, व्यावहारिक ज्ञान और दृष्टिकोणों आदि के अर्जन में बच्चों की पूर्ण सहायता नहीं करती। विभिन्न प्रत्ययों को और अधिक स्पष्ट करने और उन्हें ठोस बनाने के लिए कार्य-पुस्तिका, परीक्षण सामग्री, चार्ट्स, फिल्म्स आदि अतिरिक्त साधनों की सहायता लेनी पड़ती है। अतः ऐसे शिक्षण-उपस्करों का निर्माण अपेक्षित है, जिनमें पाठ्य-पुस्तकें भी हों और सहायक-सामग्री भी। कक्षा-विशेष में किसी विषय के शिक्षण के समस्त उद्देश्यों को सामने रख कर ही शिक्षण-उपस्कर के विभिन्न अन्तर्सम्बद्ध और अन्तर्निर्भर आनुषंगिक तत्त्वों की योजना बना कर उनका विकास करना चाहिए।

6·4. विभिन्न विषयों के शिक्षण-उद्देश्यों को प्राप्त करने में शिक्षण-साधनों का चुनाव, निर्माण, और उचित प्रयोग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शिक्षण-प्रक्रिया में बहु-साधनी दृष्टि का परिणाम बेहतर शिक्षण ही होगा। आर्थिक विवशता को देखते हुए, सब स्कूलों को शैक्षिक तकनीक जन्य नवीनतम साधनों व सामग्री

से लाभान्वित करना सम्भव नहीं है। फिर भी इस सीमा के बावजूद अच्छा अध्यापक उपलब्ध साधनों और सामग्रियों का बेहतर उपयोग करके तथा कुछ का निर्माण स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्ची सामग्री से करके शिक्षण को अधिक प्रभावशाली बना सकता है।

6·5. कक्षा में सहायक सामग्री के प्रयोग की कोई सामान्य नीति या विधि नहीं बताई जा सकती। प्रत्येक अच्छा अध्यापक यह जानता है कि विभिन्न अध्यायों और पाठों के लिए अलग-अलग प्रकार की सामग्री की आवश्यकता होती है। वह यह भी जानता है कि बच्चों के समूह-विशेष के विकास के लिए आवश्यक शिक्षण-साधनों और सामग्रियों में आवश्यकतानुसार अन्तर होता है। कभी मौखिक उदाहरणों का उपयोग श्रेष्ठतम होता है; कभी केवल किसी चित्र की ही आवश्यकता होती है; या कभी किसी चार्ट या मॉडल की, या श्यामपट पर चित्र की या किसी फिल्म या उसके किसी अंश की। साधनों की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए कि उनके प्रयोग का उद्देश्य स्वत: स्पष्ट हो जाए। सहायक साधनों के प्रयोग का उद्देश्य किसी विचार को ठोस रूप देना या किसी दृष्टिकोण का विकास करना हो सकता है। पहले उद्देश्य के लिए हम ठोस वस्तुओं, मॉडलों, चित्रों और चार्टों का प्रयोग कर सकते हैं, और दूसरे के लिए नाटक, अभिनय और अनुकरण का।

6·6. जिस बात पर हमेशा पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता, वह है स्कूल में इस प्रकार की सामग्री को एकत्रित करना। जब किसी स्कूल की रुचि एक प्रकार की सामग्री या एक क्षेत्र-विशेष में होती है, तो प्राय: परिणाम यह होता है कि अन्य सामग्रियाँ और क्षेत्र उपेक्षित रह जाते हैं। अत: सामग्री-संचयन की योजना सावधानी से बनाना अनिवार्य है। विभिन्न प्रकार की सामग्रियों का संचयन होना चाहिए ताकि स्कूल के पाठ्यक्रम का कोई क्षेत्र या अंश उपेक्षित न रह जाए। तभी उपलब्ध साधनों के अन्तर्गत सानुपातिक संचयन हो सकता है।

7
मूल्यांकन और पश्चपोषण

7·1. मूल्यांकन का प्रमुख लक्ष्य यह देखना है कि पाठ्यक्रमों के निर्धारित उद्देश्यों की किस सीमा तक प्राप्ति हुई है। यह प्रक्रिया स्वभावतः शैक्षिक अनुभवों और शिक्षण की उन विधियों से सम्बद्ध है जो सीखने की प्रक्रिया में प्रयुक्त की गई हों। मूल्यांकन को उपयोगी बनाने के लिए उसमें इन विशेषताओं का होना आवश्यक है :

7·1·1. उसे निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के विश्वसनीय और ठोस प्रमाण देने वाला होना चाहिए।

7·1·2. उसे क्रमशः कई एक उद्देश्यों और फिर सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को अपनी सीमा में लेने वाला होना चाहिए।

7·1·3. मूल्यांकन लिखित, प्रायोगिक और मौखिक परीक्षाओं, निरीक्षण, स्तरीकरण इत्यादि विभिन्न साधनों और तरीकों से होना चाहिए ताकि विभिन्न उद्देश्यों और वस्तु सामग्री से सम्बद्ध संप्राप्ति का मूल्यांकन हो सके।

7·1·4. मूल्यांकन थोड़े-थोड़े समय पर कई बार होना चाहिए। यह छः महीनों या वर्ष में केवल एक बार ही नहीं होना चाहिए क्योंकि इसका उद्देश्य विद्यार्थियों और अध्यापकों का तुरन्त पश्चपोषण करना है। विद्यार्थियों को ज्ञान-प्राप्ति के बाद यथा शीघ्र उनके ज्ञान का परिणाम मिलना चाहिए। उन्हें मालूम होना चाहिए कि उन्होंने क्या सीखा है, कितना सीखा है और कितनी अच्छी तरह से सीखा है। अध्यापक को मूल्यांकन के माध्यम से मालूम होना चाहिए कि उसके शिक्षण का क्या लाभ हुआ है, उसे शिक्षण में कहाँ असफलता मिली है, और उसे शिक्षण में कहाँ परिवर्तन करना चाहिए ताकि जो विषय वह पढ़ाता है उस पर सब विद्यार्थी अधिकार प्राप्त कर सकें या शैक्षिक अनुभवों के माध्यम से वांछित गुणों का विकास कर सकें। अतः मूल्यांकन अध्यापक को स्वयं करना चाहिए।

7·2. यह बात महत्त्वपूर्ण है कि विद्यार्थी मूल्यांकन के प्रति गलत दृष्टिकोण अपनाने की अपेक्षा उसे अपनी उपलब्धियों में सुधार का साधन समझ कर सही रूप में ग्रहण करें। पाठ्यक्रम के सभी विषयों में एक ही समय उत्तीर्ण होने पर बल देने

और अनुत्तीर्ण होने के भय के कारण बहुत से विद्यार्थी असन्तुलित हो जाते हैं। उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। अतः मूल्यांकन में लचक होनी चाहिए। मूल्यांकन का तरीका ऐसा होना चाहिए कि विद्यार्थी कण्ठस्थ करने की प्रवृत्ति न अपनाएँ और अपने ज्ञान का उपयोग नयी स्थितियों और समस्याओं के समाधान ढूंढने में कर सकें। बच्चे तब तक आलोचनात्मक चिन्तन, सर्जनात्मकता और मूल्यात्मक-निर्णय, जैसी ज्ञान की उच्च सीमाओं तक पहुंचने के लिए प्रयत्न नहीं करेंगे जब तक कि ज्ञान को उपयुक्त अनुभवों से विकसित करने और उसका उचित मूल्यांकन करने का प्रयत्न नहीं किया जाएगा। जहाँ स्कूल में केवल शुष्क शैक्षिक अनुभव दिए जाते हैं या मूल्यांकन की विधि रटने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है, वहाँ वह सब निरर्थक हो जाता है, जिस पर हमने अब तक विचार-विमर्श किया है।

7·3. प्राथमिक स्तर पर बच्चे छोटे और कोमल होते हैं। इस स्तर पर उन पर मूल्यांकन की कोई लचकहीन प्रणाली नहीं थोपी जा सकती। अतः मूल्यांकन शिक्षा-प्रक्रिया में ही सन्निहित होना चाहिए। प्रत्येक बच्चे के लिए लगातार प्रगति का लेखा रखने की प्रणाली का विकास किया जाना चाहिए। इसका आधार निरीक्षण और मौखिक परीक्षाएँ होनी चाहिएँ। प्रोन्नति का आधार वर्ष के अन्त में ली जाने वाली मौखिक परीक्षा नहीं होनी चाहिए। सम्पूर्ण सत्र में प्रगति के लेखे के आधार पर ही बच्चे को अगली कक्षा में चढ़ाना चाहिए। सामान्यतः सभी बच्चों को अगली कक्षा में चढ़ा देना चाहिए। फिर भी उन बच्चों पर विशेष ध्यान देना चाहिए जो संतोषजनक प्रगति नहीं करते। उन बच्चों पर और भी अधिक ध्यान देना चाहिए जो समाज के पिछड़े हुए वर्गों से हैं।

7·4. प्रत्येक क्षेत्र में विद्यार्थियों की प्रगति का अविरल मूल्यांकन एक नियमित कार्य-पद्धति पर आधारित होना चाहिए। मिडिल व आगे के विद्यार्थियों की विभिन्न विषयों में प्रगति के मूल्यांकन के लिए लिखित परीक्षाएँ भी होनी चाहिएँ। किन्तु परीक्षण की विधि केवल निबन्ध-परीक्षाओं की ही नहीं होनी चाहिए। उसके लिए अलग-अलग तरीके अपनाये जा सकते हैं। प्रायोगिक परीक्षाएँ भी प्रारम्भ करनी चाहिएँ। निरीक्षण, जाँच-सूचियाँ, मौखिक परीक्षाएँ, विद्यार्थियों द्वारा वस्तुओं का मूल्यांकन भी इस परीक्षण के अतिरिक्त साधनों और विधियों के रूप में प्रयुक्त होना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो वार्षिक परीक्षा भी ली जा सकती है। किन्तु, वर्ष भर में किए गए अन्य मूल्यांकनों की तुलना में इस पर अधिक बल नहीं देना चाहिए। कुल मिलाकर उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण करने के लिए औपचारिक परीक्षाओं पर बल नहीं देना चाहिए; बल विद्यार्थी की प्रगति के मूल्यांकन पर होना चाहिए जिससे सम्बद्ध व्यक्तियों का मार्ग दर्शन हो सके। वास्तव में किसी भी परीक्षा में कोई उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण नहीं होना चाहिए। पाँच सूचक-अक्षरों की स्तर प्रणाली (ए, बी, सी, डी, ई) का आसानी से प्रयोग किया जा सकता है। इस मूल्यांकन का आगामी शिक्षा में उपयोग महत्त्वपूर्ण है। यह विद्यार्थियों को उनकी परीक्षित उत्तर-पुस्तिकाएँ लौटा कर और उनकी अशुद्धियों पर बातचीत कर तथा उन्हें बेहतर ढंग से कार्य कर सकने के निर्देश

देकर, किया जा सकता है । यदि कोई विद्यार्थी अपने किसी मूल्यांकन में अपना स्तर सुधारना चाहता है, तो उसे उस विषय में पुनः परीक्षा देने का अवसर दिया जाना चाहिए ।

7·5. प्रत्येक विषय/इकाई में स्कूल द्वारा किए गए संचयित मूल्यांकन का रिकार्ड बनाया जाना चाहिए और प्रत्येक विद्यार्थी को दिया जाना चाहिए । इस प्रकार के मूल्यांकन के लेखे में शैक्षिक और गैर-शैक्षिक क्षेत्र, दोनों होने चाहिए । उनका समुच्चय नहीं किया जाना चाहिए । अतः स्कूल छोड़ने के अन्तिम प्रमाणपत्र में उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण नहीं लिखा होना चाहिए । इस प्रमाणपत्र में प्रत्येक विद्यार्थी द्वारा विद्यालय में प्राप्त सूचकांक-अक्षरों (ए, बी, सी, डी, ई) का ही उल्लेख होना चाहिए । धीरे-धीरे जब आन्तरिक मूल्यांकन की प्रणाली जड़ें जमा लेगी और स्तर को निम्न करने वाले परीक्षण-पूर्वाग्रहों को समाप्त करने की विधि जब बन जायेगी, तब दसवीं कक्षा के अन्त में बाह्य लोक-परीक्षा की अनिवार्यता नहीं रहेगी और तब उसे समाप्त कर देना होगा । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक बोर्ड/राज्य को एक क्रमिक-कार्यक्रम बनाना चाहिए ।

7·6. राज्य भर में स्कूल समुच्चयों की स्थापना की जा सकती है । किसी भी समुच्चय के स्कूल के अध्यापकों की एक समिति बनाई जा सकती है, जो अपने क्षेत्र के स्कूलों से समय-समय पर उत्तर पुस्तिकाएँ और प्रश्न-पत्र मँगा कर पूर्वाग्रह दूर करने हेतु कुछ को पुनः मूल्यांकित करें । फिर सम्बद्ध अध्यापकों से उन पर खुला विचार-विमर्श किया जा सकता है । जिला स्तर पर जिला शिक्षा अधिकारी, निरीक्षक और वरिष्ठ अध्यापक ऐसी समिति बना करके इस प्रकार के नमूनों की पुनः परीक्षा कर सकते हैं । फिर वे सम्बद्ध स्कूल समुच्चयों से परिणामों पर बातचीत कर सकते हैं । राज्य स्तर पर भी ऐसी समितियों का निर्माण किया जा सकता है । यह इस बात को सुनिश्चित करने का एक तरीका होगा कि मूल्यांकन ठीक हुआ है । इससे स्तर को भी बनाए रखा जा सकेगा । प्रत्येक स्कूल को समय-समय पर समुदाय सभाओं का आयोजन करना चाहिए । यह केवल समुदाय को विद्यालय से सम्पृक्त करने के लिए ही नहीं होगा बल्कि यह बताने के लिए भी होगा कि मूल्यांकन किस प्रकार किया जाता है व विद्यार्थी की शिक्षा और विकास में प्रगति लाने और अध्यापकों द्वारा शिक्षण में सुधार लाने में किस प्रकार उसका उपयोग किया जाता है ।

8

कार्यान्वयन की आवश्यकताएँ एवं दायित्व

8·1. उपर्युक्त प्रस्ताव की कार्यान्विति के लिए निम्नलिखित चार मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत विचार विमर्श किया गया है :

क. कार्यान्वयन के लिए प्रशासन
   राष्ट्रीय स्तर पर
   राज्य स्तर पर

ख. कार्य के क्षेत्र
   अनुसन्धान और विकास
   प्रशिक्षण और प्रसार
   समन्वय
   सूचना-संग्रह एवं वितरण कार्य

ग. स्कूलों के दायित्व
   विद्यालय का वातावरण
   सुविधाओं की व्यवस्था

घ. समुदाय की सम्पृक्ति

Nation[illegible]te of Education
Acc. No
Date

क. कार्यान्वयन के लिए प्रशासन

8·2. राष्ट्रीय और राज्यीय स्तर पर पाठ्यक्रम में नवीनीकरण के लिए व्यवस्था पहले से ही है। अच्छी संस्थाओं में भी यह उपलब्ध है। फिर भी, इसकी सीमाओं और कार्यों की स्पष्टतर परिभाषा करना आवश्यक लगता है।

राष्ट्रीय स्तर पर

8·3·1. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् से पाठ्यक्रम के क्षेत्र में नये विचारों को विकसित करने और उनका शिक्षा क्षेत्र में प्रसार करने की अपेक्षा की जाती है। केन्द्र में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् का यह कर्त्तव्य होगा कि राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान, चार क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयों और विभिन्न राज्यों में क्षेत्रीय इकाइयों की सहायता से इस क्षेत्र में हो रहे कार्य का समन्वय करे, पाठ्यक्रम से सम्बन्धित अनुसन्धान और विकास की गतिविधियों को प्रोत्साहित करे और उसके लिए सहायता दे। वर्तमान प्रस्तावों के संदर्भ में अनेक कार्य-क्षेत्रों के अन्तर्गत इसके विशिष्ट उत्तरदायित्वों पर सविस्तार विचार-विमर्श किया जा रहा है। विश्वविद्या-

लयों को भी इसमें सम्मिलित किया जाना चाहिए। इस प्रकार अनेक पाठ्यक्रम-विकास केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए।

राज्य स्तर पर

8·3·2. राज्य स्तर पर कई अभिकरण प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः पाठ्यक्रम से सम्बद्ध हैं। राज्य शिक्षा संस्थान, राज्य विज्ञान-शिक्षा संस्थान, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, पाठ्य पुस्तक ब्यूरो, मन्त्रणा ब्यूरो और इसी प्रकार के अन्य विशेषज्ञ संस्थान, सभी किसी-न-किसी रूप में पाठ्यक्रम के काम में जुड़े हुए हैं। जहाँ तक पाठ्यक्रम के नवीनीकरण का प्रश्न है, उसके लिए आवश्यक है कि इन संस्थानों की भूमिकाओं को स्पष्ट करते हुए इनके कार्यों में समन्वय स्थापित किया जाए। कुछ राज्यों ने पहले ही राज्य शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषदों की स्थापना कर दी है। अन्य राज्य भी यह कार्य करके अपने यहाँ शीर्ष संस्थाओं की व्यवस्था कर सकते हैं। समन्वित विधि से पाठ्यक्रम का नवीनीकरण इनके प्रमुख उद्देश्यों में से एक होगा।

ख. कार्य के क्षेत्र

8·4. पाठ्यक्रम के नवीनीकरण के किसी भी प्रस्ताव का शैक्षिक प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों पर दूरगामी प्रभाव होता है। यदि इनसे वांछित परिणाम प्राप्त करने हैं तो इन प्रभावों को अनेक मोर्चों पर एक साथ कार्यशील करना पड़ेगा। साथ ही इनको स्पष्ट करना भी आवश्यक है।

अनुसन्धान और विकास

8·5. पाठ्यक्रम नवीनीकरण एक अविरल गतिविधि है। पाठ्यक्रम को विकसित और कार्यान्वित करने के पश्चात् उसके कार्यान्वयन की प्रक्रिया, उसमें प्रयुक्त सामग्रियों और विधियों तथा उसके परिणामों का अध्ययन आवश्यक है। इसके लिए निम्नलिखित क्षेत्रों में कार्य करना होगा :

(i) न्यूनतम इकाइयों वाले एक ऐसे मूलभूत पाठ्यक्रम का विकास करना होगा जिसके सभी पक्ष विकसित हों। इसके साथ ही आवश्यक पाठ्यपुस्तकों, अध्यापक मार्ग-दर्शिकाओं, कार्य-पुस्तिकाओं जैसे शिक्षण-साधनों का विकास भी करना होगा। इन साधनों का विकास शिक्षा-क्षेत्र में किए गए प्रायोगिक परीक्षणों के आधार पर करना होगा। यह कार्य राज्यों के माध्यमिक शिक्षा-बोर्डों, राज्यों की अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषदो, राज्यों के शिक्षा संस्थानों आदि की सहायता से राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् कर सकती है।

(ii) शिक्षण की ऐसी तकनीकों और विधियों का विकास करना होगा जो अधिकतम प्रभावपूर्ण हों।

(iii) राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् तथा राज्य स्तर के अभिकरणों को समय-समय पर मूल्यात्मक अध्ययन करने चाहिएँ ताकि यह जाना

Acc. No. F14612
Date 10.11.82 51

जा सके कि सामान्य शिक्षा के समग्र रूप से तथा उसकी प्रक्रिया के विभिन्न अंगों के उद्देश्यों की प्राप्ति कहाँ तक हुई है।

(iv) बच्चों की प्रेरणाओं, सीखने, विकास और व्यवहार सम्बन्धी चारित्रिक विशेषताओं के अध्ययन को प्रोत्साहन देना चाहिए।

(v) राज्य के अभिकरणों को अपने स्तर पर स्कूलों के वातावरण और विभिन्न कार्यकर्त्ताओं की भूमिकाओं का अध्ययन करना होगा ताकि प्रभावशाली शिक्षा के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकें।

(vi) अध्यापकों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों आदि को प्रस्तावित पाठ्यक्रम-परिवर्तनों के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रभावों का अध्ययन इस दृष्टि-विशेष से करना होगा कि ऐसे रास्ते खोजे जाएँ कि समुदाय प्रभावशाली रूप से उसमें भाग ले।

(vii) परीक्षा-प्रणाली के परिवर्तन के लिए उठाये गए कदमों के प्रभाव का पता लगाने के लिए भी अध्ययन आवश्यक है।

8·6. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् को उपर्युक्त क्षेत्रों में वैज्ञानिक अध्ययनों को प्रारम्भ करके उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए तथा उन्हें पूर्ण करने के लिए आवश्यक नेतृत्व करना चाहिए। उसे न केवल राज्यों में हो रहे अनुसंधान-कार्य का समन्वय करना चाहिए बल्कि विशेष अध्ययनों के लिए विशेष मन्त्रणा भी देनी चाहिए और मार्ग-प्रदर्शन भी करना चाहिए। उसे पाठ्यक्रम पर वैज्ञानिक अध्ययन करने में सक्षम संस्थाओं को छाँट कर उन्हें सहायता देनी चाहिए। उसे पाठ्यतालिकाओं, पाठ्यपुस्तकों, पाठ्यपुस्तकों के नमूनों, अध्यापकों के लिए पुस्तक दर्शिकाओं, कार्य-पुस्तिकाओं, शिक्षण-साधनों और सामग्री का निर्माण करना चाहिए। मार्ग-प्रदर्शन के लिए ये सब चीजें राज्यों को उपलब्ध करायी जानी चाहिए।

8·7. प्रत्येक राज्य सरकार को राज्य के शिक्षा संस्थान में अधिकार प्राप्त पाठ्यक्रम सेल का निर्माण करना चाहिए। ये राज्य स्तर पर अनुसंधान और विकास अध्ययनों के समन्वय, सहायता देने और उन्हें पूर्ण कराने के लिए उत्तरदायी होंगे। चुनिंदा अध्यापक महाविद्यालयों और अन्य महाविद्यालयों तथा संस्थाओं को प्रभावशाली रूप से इसमें संलग्न किया जा सकता है। माध्यमिक शिक्षा बोर्डों, राज्य शिक्षा संस्थानों, राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषदों, और कुछ चुने हुए महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों को राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के साथ सहयोग करके पाठ्यतालिकाओं, पाठ्यपुस्तकों, कार्य पुस्तिकाओं, अध्यापक दर्शिकाओं, शैक्षिक साधनों, सामग्रियों आदि का विकास करना चाहिए।

प्रशिक्षण एवं प्रसार

8·8. सामान्य शिक्षा के लक्ष्यों और प्रयोजनों पर बल देने से उनकी प्राप्ति में अध्यापक की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अध्यापक को नए दृष्टिकोण का निर्माण करना होगा। उसे आवश्यक जानकारी प्राप्त करनी होगी तथा विधियाँ और

तकनीकें सीखनी होंगी । अतः अध्यापकों को पूरी तरह से तैयार करने की विधि पूर्ण योजना बनाने की आवश्यकता है । यह योजना उन अध्यापकों के लिए भी बनानी होगी जो सेवारत हैं और उन अध्यापकों के लिए भी बनानी होगी जो प्रशिक्षणरत हैं ।

अध्यापकों को सेवाकालीन शिक्षण

8·9. अध्यापकों को विभिन्न विषय क्षेत्रों और अन्य स्कूली कार्यक्रमों में प्रस्तावित परिवर्तनों तथा विभिन्न पाठ्यक्रम क्षेत्रों की नयी विषय वस्तु, विधियों और सामग्रियों से परिचित कराने के लिए लघु अवधि और दीर्घ अवधि के अभिस्थापन शिक्षण क्रमों (ओरिएण्टेशन कोर्सेस) का आयोजन करना होगा । उन्हें न्यूनतम व्यय पर अधिकतम परिवर्तन लाने के लिए समुदाय में उपलब्ध साधनों के प्रयोग की विभिन्न विधियों से भी परिचित कराना होगा । विज्ञान और कार्यानुभव जैसे क्षेत्रों के लिए विशेष योजना और प्रयत्न की आवश्यकता होगी । अध्यापकों को अविरल आन्तरिक मूल्यांकन कार्य के लिए प्रशिक्षित करना भी आवश्यक होगा । विद्यालय की सभी कक्षाओं के लिए बोर्ड स्तर पर प्रश्न बैंकों का विकास करना होगा । अध्यापकों को अंकों के स्थान पर सूचक अक्षरों का प्रयोग सीखने में सहायता देनी होगी । आन्तरिक मूल्यांकन प्रणाली में पूर्वाग्रहों को दूर करने के लिए अनिवार्य कदम उठाने होंगे । इसके लिए स्कूल समुच्चयों की स्थापना करनी होगी और ऐसे समुच्चयों के सब व्यक्तियों को मूल्यांकन कार्य का निरीक्षण करने का प्रशिक्षण देना होगा । इसके लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् तथा राज्य अभिकरणों को निश्चित अवधि वाला कार्यक्रम तैयार करना चाहिए ।

8·10. इस क्षेत्र में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् को निम्नलिखित प्रमुख उत्तरदायित्व निभाने हैं :

(i) अध्यापकों की सेवाकालीन शिक्षा के लिए विभिन्न पाठ्यक्रम क्षेत्रों में पाठ्यतालिकाओं और सामग्रियों का निर्माण । ये सामग्रियाँ साधन सामग्रियों, अध्यापकों के लिए हस्त-पुस्तिकाओं, दृश्य-श्रव्य साधनों इत्यादि के रूप में हो सकती हैं ।

(ii) राज्यों से चुने हुए मुख्य व्यक्तियों का प्रशिक्षण ।

(iii) प्रस्तावित पाठ्यक्रम परिवर्तनों से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध प्रसार कार्यक्रमों के आयोजन-कार्यान्वयन में राज्यों को सहायता ।

(iv) परिवर्तन के लिए राज्यों में अपेक्षित वातावरण बनाने के लिए अध्यापक सभाओं, सेमिनारों, कान्फ्रेन्सों आदि का आयोजन । इनमें से अधिकांश का आयोजन राज्य अभिकरणों के सहयोग से किया जाना चाहिए ।

8·11. अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिए राज्य अभिकरणों को भी अध्यापकों के अभिस्थापन के लिए व्यापक कार्यक्रम बनाने होंगे । विशेषज्ञता और

सामग्रियों के विकास के लिए उन्हें अनेक प्रकार के स्थानीय साधनों का प्रयोग करना पड़ेगा। उन्हें प्रशिक्षण और प्रसार की स्थानीय आवश्यकताओं की जानकारी के लिए नमूने का सर्वेक्षण करके आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। क्योंकि इस कार्यक्रम के लिए काफी आर्थिक, मानवीय साधनों और समय की आवश्यकता होगी, इसलिए यह उचित होगा कि राज्य अभिकरण प्रमुखताओं के अनुसार निश्चित कार्यावधि वाले कार्यक्रम बनायें। निःसन्देह पाठ्यक्रम के प्रस्तावित नवीनीकरण के कार्यक्रम में सर्वोच्च स्थान कार्यानुभव तथा विज्ञान और गणित के अध्यापकों के अभिस्थापन को ही प्राप्त होना चाहिए।

8·12. प्रत्येक राज्य को अध्यापकों की सेवाकालीन शिक्षा के लिए त्रि-स्तरीय योजना बनानी चाहिए। प्रथम स्तर अध्यापक-शिक्षकों और महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालय के चुने हुए शिक्षकों का होगा जिन्हें क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। द्वितीय स्तर मुख्य अध्यापकों और उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों का होगा जिन्हें राज्य में ही क्षेत्रानुसार आयोजित करके प्रथम स्तर पर प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। तृतीय स्तर प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों का होना चाहिए, जिन्हें जिला-स्तर पर इकट्ठा किया जा सकता है। इन्हें पहले और दूसरे, दोनों स्तरों पर प्रशिक्षित व्यक्ति ही प्रशिक्षण देंगे। स्वयं सीखने हेतु भी पर्याप्त मात्रा में सामग्रियों का निर्माण होना चाहिए। इसके लिए राष्ट्रीय और राज्य-स्तर पर प्रशासन की आवश्यकता होगी।

अध्यापकों की सेवा-पूर्व शिक्षा

8·13. अध्यापकों की भावी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सेवा-पूर्व अध्यापक-प्रशिक्षण अनिवार्य है। सेवारत अध्यापकों की शिक्षा के कार्यक्रम पर दबाव कम करने के लिए भी ऐसा करना आवश्यक है। प्रस्तावित पाठ्यक्रम नवीनीकरण के आधार पर ये आवश्यकताएँ यों होंगी :

(i) विद्यालय के समस्त पाठ्यक्रम की नयी माँगों के अनुसार प्राथमिक और माध्यमिक अध्यापक-शिक्षा के पाठ्यक्रम का ऐसा संशोधन कि स्कूल के कर्त्तव्यों, उचित दृष्टिकोणों और मूल्यों का विकास किया जा सके। अध्यापन की संश्लिष्ट दृष्टि, सहायक साधनों के निर्माण, समुदाय की सहायता लेने की बात, उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग, अविरल मूल्यांकन आदि भी उसमें परिलक्षित होने चाहिएँ।

(ii) इस नयी चुनौती का सामना कर सकने वाले अध्यापक प्रशिक्षकों का प्रशिक्षण।

8·14. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् तथा उसके अन्तर्गत क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयों को इसमें प्रमुख भूमिका निभानी चाहिए। उन्हें प्रत्येक राज्य तथा विश्वविद्यालय के साथ विस्तृत अध्यापक-शिक्षण-कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए और उन्हें अपने कार्यक्रमों की पुनर्रचना के लिए सहायता देनी चाहिए।

उन्हें अध्यापक-प्रशिक्षणों के अभिस्थापन के लिए भी कार्य करना चाहिए ताकि वे अपने उत्तरदायित्वों को अधिक प्रभावशाली ढंग से निभा सकें। अध्यापक-प्रशिक्षण के क्षेत्र में उपलब्ध साहित्य और सामग्रियों की कमियों को दूर करने के लिए प्रत्ययात्मक साहित्य और सामग्रियों को भी विकसित करना चाहिए। अध्यापक-शिक्षा कार्यक्रमों पर बार-बार लगाये जाने वाले आरोप कि वे न यथार्थवादी होते हैं और न स्कूलों की स्थितियों के अनुरूप होते हैं, पर भी गम्भीरता से विचार अपेक्षित हैं। इस विषय पर विचार करना और भी आवश्यक हो गया है क्योंकि स्कूल पाठ्यक्रमों को ही समुदाय की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया जा रहा है। साथ ही स्कूल और कार्य के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न किया जा रहा है।

8·15. राज्य शिक्षा विभागों और विश्वविद्यालयों को भी राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के सहयोग से, अध्यापक महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम के सुधार के लिए, ऊपर सुझाए गए हिसाब से तुरन्त कार्यवाही करनी होगी।

समन्वय

8·16. पाठ्यक्रम नवीनीकरण का कार्य चूंकि बहुमुखी है और इसमें अनेक अभिकरण और अनेक प्रकार के कार्यक्रम निहित हैं, इसलिए प्रस्तावित पाठ्यक्रम के प्रभावशाली कार्यान्वयन के लिए समस्त अभिकरणों और कार्यक्रमों में भली-भाँति समन्वय आवश्यक है। इस समन्वय का अभिकरणों और कार्यक्रमों, दोनों के संदर्भ में, लम्बात्मक और क्षैतिज होना अनिवार्य है।

8·17. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् को अपने अधीनस्थ इकाइयों और राज्य-स्तर के अभिकरणों के बीच समन्वय स्थापित करना चाहिए। यह कार्य समय-समय पर कान्फ्रेंसों और सभाओं के आयोजन, विभिन्न राज्यों द्वारा स्वीकार्य सहायक साधनों और सामग्रियों के विकास, प्रमुख व्यक्तियों को अनेक पक्षों में प्रशिक्षित करने के लिए लघु-अवधि और दीर्घ-अवधि वाले अभिस्थापना कोर्सों और अन्तरस्थानबद्ध कार्यक्रमों से किया जा सकता है। कार्य-क्षेत्र सलाहकारों और क्षेत्रीय-शिक्षा महाविद्यालयों की सेवाएँ भी इसके लिए ली जा सकती हैं।

8·18. राज्य स्तर पर भी समन्वय की आवश्यकता है। विभिन्न उप-स्तरों के लिए पाठ्यक्रम तथा पाठ्यक्रम-अंगों के लिए शिक्षा निदेशालय, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राज्य शिक्षा संस्थान और पाठ्य-पुस्तक ब्यूरो जैसे अनेक अभिकरण हैं। अतः इन अभिकरणों द्वारा एक दूसरे के कार्यों की सीमाओं का अतिक्रमण भी हो सकता है। कुछ बातों में वे एक दूसरे पर इतने निर्भर हो सकते हैं कि बिना उचित समन्वय के समय और प्रयत्न व्यर्थ हो जाये। अतः पाठ्यक्रमों के सम्बन्ध में विभिन्न अभिकरणों के कार्यों को निश्चित करना होगा। इनमें से एक को समन्वय का कार्य भी सौंपना अनिवार्य है। यह उस दशा में और भी सुगम होगा यदि प्रत्येक राज्य में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् की रूपरेखा पर अभिकरण की स्थापना की जाए। कुछ राज्यों में पहले ही ऐसा किया जा चुका है।

सूचना-संग्रह एवं वितरण कार्य

8·19. राष्ट्रीय स्तर पर इन कर्त्तव्यों की पूर्ति मुख्यतः राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् करेगी। इसे विभिन्न राज्यों से सूचनाएँ एकत्र करके अन्य राज्यों को प्रेषित करनी होंगी और राज्यों को देश के अन्दर और देश से बाहर हुए पाठ्यक्रम सम्बन्धी, नवीनतम विकासों की सूचना भी देनी होगी। राज्यों को एक ओर इस विषय में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् से निकट सम्पर्क रखना होगा और दूसरी ओर अपने राज्य में विद्यालयों और प्रशिक्षण संस्थाओं के लिए सूचना-संग्रह एवं वितरण का कार्य करना होगा। इसका कारण यह है कि नयी विधियाँ और अनुसन्धान तभी सार्थक होते हैं जब उनका उपयोग करने वालों तक उन्हें प्रेषित किया जाए।

ग. स्कूलों के दायित्व

8·20. स्कूलों के लिए नयी विधियों के प्रभाव दूरगामी हैं। यदि इन्हें ठीक से लागू किया जाए तो स्कूलों का एकदम रूपांतरण किया जा सकता है। स्कूल के दृष्टिकोण से इसके दो अंगों पर विचार अपेक्षित है।

स्कूल का वातावरण

8·21. व्यवहार के स्तर पर पाठ्यक्रम वह नहीं होता जो लिखित रूप में होता है, बल्कि वह होता है जो स्कूलों में वस्तुतः प्रयुक्त होता है। आदर्श के स्तर पर प्रत्येक स्कूल को राष्ट्रीय उद्देश्यों के अन्तर्गत अपने पाठ्यक्रम का विकास करने के लिए स्वतन्त्र होना चाहिए। विद्यालय के पाठ्यक्रम के विकास के लिए स्थानीय स्तर पर साधनों की उपलब्धि, अध्यापक समुदाय की आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ, समुदाय की सहायता, भौतिक सुविधाएँ, स्थानीय, सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठ-भूमि, स्थानीय स्तर पर नौकरी के अवसर इत्यादि, कुछ महत्त्वपूर्ण बातें हैं, जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए। वर्तमान सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयों में भी स्थानीय नेतृत्व और सम्पृक्ति के लिए काफी स्थान है। इसके लिए स्कूलों को आवश्यक वातावरण का निर्माण करना चाहिए। स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप राज्य द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम का अनुकूलन भी अनिवार्य है। जब तक विद्यार्थियों को आकृष्ट किए रखने के लिए स्कूल में आकर्षक वातावरण नहीं होगा, तब तक आलस्य और गतिरोध की स्थितियाँ बनी रहेंगी।

8·22. स्कूल के वातावरण को आकर्षक बनाने में मुख्याध्यापक प्रमुख व्यक्ति है। इस वातावरण के दो भाग हैं, अर्थात् भौतिक और मनोवैज्ञानिक। विद्यालय का भवन भले ही सादा हो, उसे आकर्षक बनाया जा सकता है। यदि मुख्याध्यापक अध्यापकों, विद्यार्थियों और अभिभावकों का सहयोग प्राप्त करने में सक्षम हों, तो बड़ी धन राशि खर्च किए बिना ही स्कूल में न्यूनतम अनिवार्य सुविधाएँ जुटाना कठिन नहीं है। स्थान को स्वच्छ और व्यवस्थित रखने में अधिक व्यय नहीं होता। इस ओर मुख्याध्यापक के सचेत प्रयत्नों से अवश्य ही पर्याप्त परिवर्तन लाये जा सकते हैं।

8·23. स्कूल में सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण भी महत्त्वपूर्ण है। यह बच्चों और अभिभावकों के लिए आकर्षक होना चाहिए। यह ऐसा होना चाहिए कि सब सम्बद्ध व्यक्तियों में स्कूल के प्रति अपनत्व की भावना का विकास हो सके। मुख्याध्यापक, अध्यापकों, विद्यार्थियों और अभिभावकों के मध्य मधुर सम्बन्ध होना चाहिए। अच्छे कार्य की प्रशंसा की जानी चाहिए। निर्णय जनतान्त्रिक ढंग से लिए जाने चाहिएँ। समय-सारिणी लचकीली होनी चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी को एक व्यक्ति-इकाई के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। समस्त अध्यापकों को एक दल के रूप में काम करना चाहिए। उन्हें विद्यार्थियों से दूर नहीं रहना चाहिए। विद्यार्थियों की व्यक्तिगत समस्याओं को समझ कर उनके समाधान ढूँढ़ने में सहायता प्रदान करना, उनके कल्याण में रुचि का प्रदर्शन, अभिभावकों से सीधा सम्पर्क और पत्र-व्यवहार तथा व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा बच्चे की प्रगति के सम्बन्ध में उन्हें सूचित करना, सर्व-रुचि वाले मामलों में विद्यार्थियों को सामूहिक निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहित और अनुमोदित करना, और ऐसे निर्णयों का आदर करना, विवेक पूर्ण दृष्टि अपनाकर अवांछित तत्त्वों को प्रारम्भ से ही दूर करना, और इन सबसे ऊपर स्कूल कार्य-क्रम को जीवन्त मानना, शिक्षा का स्वस्थ वातावरण बनाने की कुछ प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं।

सुविधाओं की व्यवस्था

8·24. अगली महत्त्वपूर्ण आवश्यकता शिक्षण साधनों और सामग्रियों के रूप में न्यूनतम अनिवार्य सुविधाओं की व्यवस्था है। विज्ञान और कार्यानुभव जैसे विषयों में, जिनमें प्रत्येक विद्यार्थी को "क्रिया" के अनुभव से गुजरना होता है, तब तक कोई अनुभव प्राप्त करना सम्भव नहीं है जब तक कि उसे यन्त्रों और सामग्री से स्वयं काम करने का अवसर नहीं मिलता। प्रतिभावान अध्यापक सहायक सामग्री और साधनों की कमी को उपलब्ध साधनों को नयी विधियों से प्रयोग करके तथा समुदाय की सहा-यता लेकर दूर कर सकते हैं। वर्तमान आर्थिक कठिनाई होते हुए भी स्कूलों को न्यूनतम सहायक साधनों को उपलब्ध कराना सम्भव होना चाहिए। उन्हें उपरोक्त प्रयत्नों से पूरा किया जा सकता है।

8·25. विद्यार्थियों के सन्तोषजनक विकास के लिए विद्यालय में मार्ग दर्शन सुविधाओं का उपलब्ध होना भी बहुत आवश्यक है। विषयों और सामान्य शिक्षा की परिसमाप्ति पर कार्य क्षेत्र के चुनाव में विद्यार्थियों की सहायता की ही जानी चाहिए। स्कूलों में आजीविका-कान्फ्रेंसों और व्यावसायिक विभागों के माध्यम से उन्हें विभिन्न व्यावसायिक सम्भावनाओं के विषय में जानकारी दी जानी चाहिए। व्यक्तिगत और समूह-मन्त्रणा से उन्हें यथार्थवादी आत्म-प्रत्ययों का विकास करने के लिए सहायता दी जानी चाहिए। प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को चुन कर उन्हें यथा सीमा तक विकास करने के अवसर देने चाहिएँ। ऐसे विद्यार्थियों के लिए संवर्द्धन-कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए। समाज के पिछड़े वर्गों से आने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक आवश्यक-

ताओं को ढूँढ़ कर उन्हें पूर्ण करने के लिए आवश्यक प्रबन्ध करने चाहिएँ। धीमा ग्रहण-शक्ति वाले विद्यार्थियों के लिए निदानात्मक परीक्षाएँ और उपचारक-शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। विभिन्न विषयों की उपलब्धियों से सम्बद्ध समस्याओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत सामंजस्य की समस्याओं को भी ढूँढ़ कर उन पर विजय पाने के लिए सन्तोषजनक परिचार भी करना चाहिए। यह सब तभी सम्भव है जब पर्याप्त मार्ग-दर्शन-सेवाएँ उपलब्ध कराई जाएँ और प्रत्येक स्कूल या स्कूल-समूहों के लिए सलाहकार उपलब्ध हों, मार्ग-दर्शन कार्यों के लिए अध्यापकों को अभिस्थापित किया जाए, तथा अभिभावकों की सहायता से प्रत्येक विद्यार्थी की प्रगति और विकास का पूरा लेखा रखा जाए।

8·26. स्कूलों के लिए एक और आवश्यक महत्त्वपूर्ण सुविधा स्कूल स्वास्थ्य-सेवा है। यद्यपि पाठ्यक्रम में स्वास्थ्य-शिक्षा का प्रावधान किया गया है, फिर भी बच्चों के समन्वित विकास के लिए नियमित स्वास्थ्य-सेवा अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापकों को उनके प्रशिक्षण-कार्यक्रमों के अन्तर्गत स्वास्थ्य-शिक्षा के नियमों से परिचित कराया जाना चाहिए। यदि वे थोड़ी-सी सावधानी बरतें तो आसानी से कमजोर दृष्टि, श्रवण-शक्ति का ह्रास, मुद्राओं की असामान्यता, वाणी-दोष जैसी शारीरिक कमियाँ ढूँढ़ कर अभिभावकों तथा स्कूल के स्वास्थ्य-अधिकारी को उपचार हेतु सूचित कर सकते हैं। अध्यापकों को प्राथमिक-चिकित्सा में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। यह ज्ञान आपत् स्थिति में काम आता है। अध्यापक को बच्चों के कद, वजन इत्यादि का रिकॉर्ड रखना चाहिए और प्रत्येक बच्चे के इस रिकार्ड का उपयोग आवश्यकता पड़ने पर आवश्यक मार्ग-दर्शन करने के लिए होना चाहिए। परन्तु अध्यापक केवल इतना ही कर सकता है। स्कूलों के स्वास्थ्य कार्यक्रम को सन्तोषजनक ढंग से लागू करने के लिए इसके साथ-साथ स्वास्थ्य सेवाओं का प्रबन्ध अनिवार्य है।

8·27. स्वास्थ्य सेवाओं का एक और पक्ष भी है जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह स्वच्छ और स्वस्थ स्कूल-परिवेश की व्यवस्था है। स्कूल का भवन और उसका अहाता साफ होने चाहिए। स्वच्छ पेय जल, मल-निकासी और साफ शौच की सुविधाओं का प्रबन्ध होना चाहिए। विद्यार्थियों को कम खर्चीला पर संतुलित दोपहर का भोजन भी उपलब्ध कराया जा सकता है।

घ. समुदाय की सम्पृक्ति

8·28. समुदाय को यह सोचना चाहिए कि स्कूल उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है और शिक्षा समुदाय की उन्नति के लिए आवश्यक है। स्कूलों और शैक्षिक प्रशासकों तथा समुदाय के बीच वर्तमान दूरी को कम करना चाहिए। इसके लिए अध्यापक का दृष्टिकोण बदलना चाहिए। कर्त्तव्य परायण शिक्षक अवश्य ही स्कूल को सामुदायिक गतिविधियों का केन्द्र बना सकता है। बदले में समुदाय अपने प्रयत्नों से स्कूल के पोषण के लिए सामग्री और मानव शक्ति के रूप में सुविधाएँ जुटा सकता है।

8·29. दृष्टिकोण में परिवर्तन होने तथा स्कूल के मंगल में समुदाय का क्रियाशील सहयोग होने पर, पाठ्यक्रम के विभिन्न पक्षों और विशेष रूप से कार्यानुभव और कलाओं के क्षेत्र में स्थानीय प्रतिभाओं का सहयोग भी सम्भव हो सकेगा। समुदाय स्कूल को अन्य भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध कराकर भी सहायता दे सकता है। एक बार समुदाय किसी संस्था को अपना स्वीकार कर ले और शिक्षा का महत्त्व समझ ले, तो इस समय हमारे सामने जो अनेक समस्याएँ हैं—विशेष रूप से प्राथमिक स्तर पर, वे स्वयमेव दूर हो जाएँगी। समुदाय के कर्मकार, बढ़ई, लोहार, अनुभवी किसान, कलाकार, संगीतकार और इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों का सहयोग संभव बनाया जाना चाहिए; उन्हें कार्यानुभव और स्कूल के अन्य पाठ्यक्रम-क्षेत्रों में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जा सकता है। यह अनिवार्य नहीं है कि हमेशा प्रशिक्षित अध्यापक की ही आवश्यकता हो। दूसरी ओर विद्यार्थियों और अध्यापकों को भी समुदाय के जीवन के साथ मिलकर काम करना चाहिए, चाहे वह सफाई हो, स्वास्थ्य हो, साक्षरता हो, वातावरण को सुन्दर बनाना हो, सड़क-निर्माण हो, सिंचाई हो, बच्चों की देख-भाल हो, या खेत, कारखाने और अस्पताल में काम हो।

National Institute of Education
Library
(Under the C.E.R.T.)
Acc. No F14612
Date 10.11.82